

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186651

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-1950

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 192/H92M** Accession No. **G. H 32**

Author **ह्यूम, डेविड**

Title **मानववृत्ति सम्बंधी विवेचन १८५५.**

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१०५

मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन

लेखक

डेविड ह्यम

अनुवादक

श्रीकृष्ण सक्सेना

अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,

लखनऊ

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण

१९६५

मूल्य

तीन रुपये, पचास पैसे

३.५०

मुद्रक

वीरेन्द्रनाथ घोष

माया प्रेस प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद-३

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जायें। शिक्षा मन्त्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्यसरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मन्त्रालय स्वयं अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की ओर से हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। डेविड ह्यूम द्वारा विरचित 'मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन' का श्री श्रीकृष्ण सक्सेना द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

**मुहम्मद करीम चागला,
शिक्षा मन्त्री, भारत सरकार**

प्रकाशकीय

मनोव्यापार सदैव हमारे साथ रहते हैं। जब उन्हें अन्वेषण का विषय बनाया जाता है तो वे गुह्य हो जाते हैं। तब हमारी दृष्टि उन सीमाओं को उतना नहीं देख पाती कि उन्हें एक दूसरे से अलग कर उनके तात्त्विक स्वरूप का आभास करा सके। वास्तव में मानसिक व्यापार अपनी अति सूक्ष्मता के कारण एक ही रूप एवं अवस्था में अधिक काल तक नहीं रह सकते। उनका बोध भी सूक्ष्म अवलोकन द्वारा ही करना चाहिए। यही हमारी प्रकृति का सिद्ध धर्म भी है। इसका विकास एवं अभ्यास मनोयोग द्वारा और भी अधिक किया जा सकता है।

अन्तःकरण की विविध वृत्तियों को पहचानना, उन्हें एक दूसरे से पृथक् तथा समुचित रूप से वर्गीकृत करके विचार एवं विमर्श का विषय बनाना, उनके रूप को परिष्कृत करना, अपनी गवेषणाओं को आगे बढ़ा कर उन आन्तरिक स्रोतों एवं सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालना, जिनके द्वारा मानव अपने विभिन्न व्यापारों में प्रेरित होता है जैसे विषयों पर 'मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन' नामक ग्रंथ में उसके मूल लेख डेविड ह्यूम ने जो विमर्श प्रस्तुत किया है उससे मानव बुद्धि के सार्थक स्वरूप से अवगत होने में सहायता मिलती है। इस ग्रन्थ के प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद में मानव बुद्धि सम्बन्धी विवेचन को बोधगम्य बनाने को अपेक्षित चेष्टा की गयी है।

आशा है, यह पुस्तक हिन्दी के पाठकों के लिये परमोपयोगी सिद्ध होगी तथा उनके लिए ज्ञान एवं संतोष दोनों की उपलब्धि संभव होगी।

सुरेन्द्र तिवारी

सचिव, हिन्दी समिति

विषयानुक्रमणिका

१. दर्शन के विविध प्रकार	१
२. प्रत्ययोद्गम	१३
३. प्रत्यय साहचर्य	२०
४. बौद्धिक व्यापार सम्बन्धी सन्देहवादी शंकाएँ	२२
५. उपर्युक्त शंकाओं के संदिग्ध निराकरण	३७
६. सम्भाव्यता	५५
७. अनिवार्य सम्बन्ध का रूप	५९
८. स्वातन्त्र्य एवं अपेक्षा	८२
९. प्राणिवर्ग की बुद्धि	१०८
१०. कौतुक	११४
११. देव-विशेष और भावी स्थिति	१३९
१२. बौद्धिक अथवा संशयात्मक दर्शन	१५८

प्रथम परिच्छेद

दर्शन के विविध प्रकार

१. नैतिक-दर्शन अथवा मानवीय-प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन दो भिन्न प्रकार से किया जा सकता है प्रत्येक पद्धति के अपने-अपने गुण हैं और वे मानव-समाज के विनोद, उपदेश एवं सुधार में सहायक होते हैं। एक की धारणा है कि मानव के जन्म का मुख्य उद्देश्य क्रिया है और वह अपनी रुचि एवं भावनाओं से प्रभावित होकर ही विषयों की महत्ता एवं रोचकता के कारण किसी वस्तु अथवा लक्ष्य का अनुसरण या अपहरण करता है। विषयों में सद्गुणों का बड़ा महत्व है, अतएव इस पद्धति के दार्शनिक सद्गुण को बहुत मनोहारी स्वरूप देते हैं। इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के हेतु वे अपनी प्रतिभा और शब्दशक्ति का पूरा उपयोग करते हैं और अपने विषय को अत्यन्त सरल और स्फुट रीति से इस तरह उपस्थित करते हैं कि वह मानव की भावनाओं को आकृष्ट करने और उसके विचारधारा को सन्तुष्ट करने में परम उपयोगी होता है। वे साधारण जीवन से अत्यन्त स्फुट चित्र चुनते हैं और विरोधी चरित्रों को उचित वैषम्य के साथ उपस्थित करते हैं। वे सुख और कीर्ति के दृश्य दिखाकर हमें सन्मार्ग की ओर लुभाते हैं तथा हमें उस ओर जाने के लिए सुन्दर उपदेश एवं परम उज्ज्वल उदाहरणों द्वारा प्रेरित करते हैं। वे हमें गुण और अवगुण के बीच अन्तर का अनुभव कराते हैं, हमारे भावों को उत्तेजित और नियन्त्रित करते हैं। और इस तरह वे हमारी मनोवृत्तियों को सत्कीर्ति एवं सम्मान की ओर झुका कर समझते हैं कि उन्होंने अपने परिश्रम का पूरा फल पा लिया।

२. दूसरे वर्ग के दार्शनिक मानव-क्रिया की अपेक्षा उसकी बुद्धि के स्तर पर अधिक विचार करते हैं और इसीलिए वे मानव की क्रियात्म-

कता को उत्तेजित करने की अपेक्षा मानवीय बुद्धि को परिणत करने की चेष्टा अधिक करते हैं। वे मानव-प्रकृति को ही अध्ययन का विषय समझकर बड़ी सूक्ष्मता के साथ उसकी जाँच करते हैं, जिससे वे उन सामान्य नियमों को जान लें जो हमारी बुद्धि को नियन्त्रित करते हैं, हमारे भावों को जागृत करते हैं तथा किसी वस्तु, कार्य अथवा व्यवहार को पसन्द या नापसन्द करने की वृत्ति को बनाते हैं। इस वर्ग के दार्शनिक इस बात को दर्शन-साहित्य की हीनता समझते हैं कि दर्शन-शास्त्र भी आज तक निर्विवाद रूप से नीति, तर्क एवं आलोचना के सिद्धान्त का निर्धारण न कर सके और सत्य एवं असत्य, गुण एवं दोष, सौन्दर्य एवं वैरूप्य के मौलिक आधारों को निश्चय किये बिना ही इनकी चर्चा करें। इस कठिन कार्य के सम्पादन में वे बाधाओं से परास्त नहीं होते, परन्तु व्यक्तिगत निर्देशनों को लेकर सामान्य नियमों को स्थिर करते हुए वे अपने तर्क को सर्व सामान्य सिद्धान्तों तक पहुँचाने की चेष्टा करते हैं और तब तक विश्राम नहीं लेते जब तक वे उन मौलिक सिद्धान्तों पर पहुँच न जायँ जिनका ज्ञान हर विज्ञान के लिए मानव जिज्ञासा की परम सीमा है। यद्यपि उनके तर्क सूक्ष्म और जनसाधारण के लिए अगम्य होते हैं और इसी कारण वे केवल सुबोध विद्वानों की ही स्वीकृति चाहते हैं, वे अपने जीवन परिश्रम की पर्याप्त सफलता इसी में मानते हैं कि वे कतिपय गुह्य तत्वों का अनावरण कर सकें और उसे आगामी पीढ़ी के ज्ञान के लिए छोड़ जायँ।

३. यह तो निश्चित ही है कि सुगम और प्रत्यक्ष-दर्शन सूक्ष्म एवं तात्त्विक-समीक्षा की अपेक्षा जन-साधारण को अधिक रोचक है। सम्भवतः कई तो सुगम-दर्शन को इसलिए भी अपनाते हैं कि वह न केवल अधिक हृदयंगम है, परन्तु अधिक उपयोगी भी है। सुगम-दर्शन जीवन के साधारण स्तर से अधिक सम्बन्ध रखता है, वह हमारे हृदय तथा मनोभावों पर अवलम्बित होकर मानव-व्यवहार को पूर्णता के आदर्श तक पहुँचा देता है। इसके विपरीत, सूक्ष्म दर्शन सामान्य व्यवहार एवं क्रिया की परिधि से बाहर होने के कारण, तत्काल लुप्त हो जाता है। ज्यों ही वह

दार्शनिक छाया से हटकर आलोक में आ खड़ा होता है, तत्काल लुप्त हो जाता है। सूक्ष्म-दर्शन के सिद्धान्त हमारे चरित्र एवं व्यवहार पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकते। हमारे हृदय के भाव, हमारी वासनाओं की जागृति, हमारी कल्पनाओं की तीव्रता, सूक्ष्म दर्शनों के समस्त सिद्धान्तों को कुचल कर गम्भीर विचारक को तो एक निकम्मा पुरुष बना देते हैं।

४. यह तो स्वीकार करना ही होगा कि स्थायी तथा अनुरूप कीर्ति सदा ही मुगम-दर्शन को प्राप्त हुई है। सूक्ष्म दार्शनिकों को तो क्षणिक सम्मान अपने-अपने युग की मनोवृत्ति के कारण प्राप्त होता रहा है परन्तु वे अपनी कीर्ति को आगामी पीढ़ी तक बनाये रखने में सदा असमर्थ रहे हैं। किसी भी सूक्ष्मद्रष्टा के लिए अपने सूक्ष्म तर्क में त्रुटि करना बड़ा आसान है और एक गलती आगे चलकर और गलतियों को जन्म देती रहती है। कारण यह कि सूक्ष्म दार्शनिक किसी भी विचित्र निगमन पर पहुँचने पर चकित नहीं होता और न लौकिक मतभेद से ही घबड़ाता है। इसके विपरीत स्थूल दार्शनिक जनसमूह के सामने अपनी सीधी-सीधी विचारधारा को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हुए दैववश यदि कोई गलती कर बैठता है तो वह फिर आगे नहीं बढ़ता और सामान्य बुद्धि के बल पर अपने तर्क को नया रूप देकर और मनोभावों को स्वाभाविक जागृति देकर सही रास्ते पर फिर लौट आता है और वह इस तरह खतरनाक धोखे (व्यामोह) से अपने आप बच जाता है। देखो आज भी सिसरो की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु अरस्तु की ख्याति सुदृष्टाव्य है। लावुयरी का नाम समुद्र पार पहुँच गया और उसकी ख्याति आज भी जीवित है, परन्तु मेलीब्रान्की की ख्याति अपने ही राष्ट्र एवं युग तक सीमित रही है। सम्भवतः एडिसन का अध्ययन उस वक्त तक भी रुचिपूर्वक होता रहेगा जब कि लौक का नामोनिशान भी न रहेगा।

शुष्क दार्शनिक तो एक ऐसा व्यक्ति है जिसे कि इस दुनिया में (जन समाज में) बहुत ही कम अपनाया जाता है क्योंकि वह समाज के हित या प्रमोद को बढ़ाने में बिल्कुल निरूपयोगी माना जाता है, वह तो

समाज से एकदम दूर हो, अपने ऐसे विचारों और सिद्धान्तों में लीन रहता है जो प्रायः जनसामान्य की बुद्धि से परे हों। दूसरी ओर, अत्यन्त अज्ञानियों की तो और भी दुर्दशा है, कारण कि विज्ञान के इस प्रगतिकाल में उससे अधिक बुद्धि-शून्य कोई भी व्यक्ति नहीं माना जाता जो कि तात्त्विक विचारों के आनन्द में रस न लेता हो। सर्वथा पूर्ण (सिद्ध) व्यक्ति तो वही समझा जाता है जो इन दो ध्रुवों के मध्य स्थित हो, जो अध्ययन, लोक-व्यवहार एवं व्यवसाय के प्रति समादर रुचि के साथ-साथ वार्तालाप में वैसा ही सूक्ष्म ध्येय एवं संजीदगी रखता हो जो साहित्य के अध्ययन से उत्पन्न होती है, तथा व्यवसाय में वैसी ही प्रामाणिकता और सच्चाई रखता हो जो कि वास्तविक दर्शन का प्रकृतसिद्ध फल है। समाज में इस प्रकार के पूर्ण-चरित्र व्यक्ति के चरित्र को सर्वत्र फैलाने के लिए सरल-सुगम रीति की रचनाओं को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है—वे रचनाएं सीधी-सादी होनी चाहिए जो जीवन की गम्भीर समस्याओं में न उलझें और जिनके तात्पर्य को समझने के लिए गम्भीर अध्यवसाय की अथवा एकान्तवास की अपेक्षा न हो और जो पाठक को उदार भावों से परिचित कर मानव जीवन के लिए हर स्थिति में उपयोगी सिद्ध होने वाले सिद्धान्तों से सुसज्जित कर जन समाज के सामने रख सकें। ऐसी सुगम रचनाओं से नीति हृदयंगम बन जाती है। विज्ञान रोचक हो जाता है, सहवास लाभकारी एवं अवकाश आनन्दप्रद।

मानव एक बुद्धि-प्रधान जीव है जो इसी वजह से विज्ञान से उचित तृप्ति एवं पुष्टि पाता है, परन्तु उसकी बुद्धि की परिधि इतनी सीमित होती है कि कल्याण एवं प्राप्ति की दृष्टि से उसे स्वल्प संतोष ही मिल पाता है। मानव जितना बुद्धिजीवी प्राणी है उतना ही वह एक सामाजिक जीव भी है, तथापि वह न तो सदा ही अपने सहवासियों के सम्पर्क का सुख भोग सकता है और न सदा ही उनके प्रति चाह ही बनाये रख सकता है। साथ ही साथ, मानव एक क्रियाशील जीव भी है—अपनी तत्परता की प्रकृति के कारण अथवा जीवन की विविध अपेक्षाओं की प्रेरणा से, उसे किसी न किसी व्यवसाय में जुटना ही पड़ता है, परन्तु उसका मन कुछ

आराम भी चाहता है—वह सदा चिन्तामय परिश्रम में अपनी वृत्ति को लगा नहीं सकता। इससे यह पता चलता है कि प्रकृति^१ ने मानव जाति के लिए एक सम्मिलित जीवन की ही व्यवस्था की है। प्रकृति, मनुष्य को गुप्त रीति से एक ही ओर झुकाव के विरुद्ध सदा चेतावनी देती रहती है ताकि मनुष्य अन्य व्यापार के लिए एकदम निरुपयोगी न बन जाय। प्रकृति का आदेश है—विज्ञान की ओर अपनी लगन रखो। परन्तु उसे सदा मानवता के लिए ही आगे बढ़ने दो ताकि तुम्हारा विज्ञान, मानवीय क्रिया एवं समाज की प्रगति से साक्षात् सम्बन्ध रख सके। वह कहती है—गम्भीर विचार एवं सूक्ष्म अन्वेषण का मैं निषेध करती हूँ और जो इनमें अपने आप को खो देते हैं उन्हें सदा अनन्त अनिश्चितता के गर्त में डाल, उदास बनाकर उचित दण्ड देती हूँ। प्रकृति का उपदेश है—दार्शनिक अवश्य बनो, परन्तु अपने दार्शनिक विचारों के साथ-साथ मनुष्य फिर भी रहो।

५. यदि लोग गम्भीर दार्शनिकों पर किसी प्रकार का आक्षेप न करके केवल सुगम दर्शन को अपनाने के पक्ष में ही होते तो यह मानने में कोई आपत्ति न होती कि व्यक्ति को बिना किसी विरोध के अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विचारधारा रखने का पूर्ण स्वातंत्र्य है। परन्तु जीवन में प्रायः ऐसा नहीं देखा जाता क्योंकि गम्भीर विचार प्रणाली जिसे आध्यात्म-दर्शन कहते हैं प्रायः नितान्त अनुपादेय मानी जाती है—इसी कारण उसके पक्ष में भी विवेचन करना उचित ही है।

प्रारम्भ में हम यही कह सकते हैं कि सर्वप्रथम लाभ जो सूक्ष्म एवं प्रामाणिक दर्शन से होता है, वह है सुगम तथा मानवोपयोगी विचार परम्परा को प्रोत्साहन। कारण, सूक्ष्म दर्शन से दूर रहकर सुगम दर्शन कभी भी अपनी वृत्तियों को, अपने सिद्धान्त तथा तर्क को उचित प्रामाण्य एवं बल नहीं दे सकता। साहित्य की समस्त रचनाएं मानव जीवन की विविध अवस्थाओं और स्वरूप के चित्र मात्र हैं। वे जिस वस्तु अथवा चित्र को उपस्थित करती है तदगत धर्मी के प्रति निन्दा-स्तुति अथवा सम्मान या उपहास की हमारी भावनाएं जागृत करती हैं। वही कलाकार

अधिक सफल होने का अधिकारी है जो अपने काम में सहृदयता एवं सूक्ष्म दृष्टि के साथ-साथ, प्रस्तुत वस्तुगत आन्तरिक स्वरूप का भी सही-सही ज्ञान रखता हो और साथ ही साथ बुद्धि के समस्त व्यापार, भावों के विविध प्रभाव, तथा गुण-अवगुण का विवेचन करने वाला, विविध धारणाओं से भली भाँति परिचित हो। यह आभ्यन्तर गवेषणा चाहे कितनी ही कष्टप्रद क्यों न प्रतीत होती हो, परन्तु किसी न किसी मात्रा में वह उस व्यक्ति के लिए परम आवश्यक हो जाती है जो जीवन को स्फुट एवं बाह्य चित्रों तथा रीतियों का स्वरूप सफलता के साथ चित्रित करना चाहता हो। एक शरीरधारी हमारे सामने अत्यन्त वीभत्स वस्तु रखता है, परन्तु शरीर के विज्ञान की आवश्यकता तो किसी भी चित्रकार को होगी चाहे वह वीनस या हेलिन का चित्र ही क्यों न खींच रहा हो। चित्रकार अपनी कला के अनुरूप, बढ़िया से बढ़िया रंग का प्रयोग क्यों न करता हो, अपनी प्रतिमाओं को सुन्दर से सुन्दर स्वरूप देने की चेष्टा क्यों न कर रहा हो, फिर भी उसे मानव शरीर के अवयवों के संगठन, अस्थि-जाल तथा पेशियों की रचना तथा प्रत्येक अंगोपांग के स्वरूप तथा क्रिया की ओर अवश्य ध्यान देना होगा। और चित्र की सच्चाई हर हालत में सौन्दर्य का हितैषी है और उचित तर्क कोमल भावनाओं का पुरस्कर्ता है; एक का मूल्य गिराकर दूसरे की महत्ता सिद्ध करने की चेष्टा व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी कला अथवा व्यवसाय में, चाहे वे हमारे जीवन अथवा व्यापार से कितने ही निकट सम्बन्ध रखते हों, प्रामाणिक दृष्टि रखना प्रस्तुत कला अथवा व्यवसाय को पूर्णता के अधिक निकट ले आता है और फलतः समाज के हित-साधन में अधिक लाभप्रद होता है। और यद्यपि दार्शनिक लौकिक व्यवसाय से दूर रहता है, परन्तु दार्शनिक प्रतिभा यदि अपनायी जाय तो वह समग्र समाज में प्रस्तुत हो हर कला एवं व्यवसाय में भी भली प्रकार प्रामाणिकता प्रदान कर सकती है। दार्शनिक प्रतिभा के फलरूप, एक कूटनीतिज्ञ अपनी शक्ति को यथोचित प्रकट करने में तथा उसके समीकरण में अधिक सूक्ष्मता और दूरदर्शिता को प्राप्त कर सकेगा, एक वकील

अपने तर्क में अधिक अच्छी रीति एवं सूक्ष्मता से सिद्धान्तों को अपना सकेगा, और सेनानायक अधिक अच्छा अनुशासन कर सकेगा तथा अपनी योजनाओं एवं सैनिक क्रिया में अधिक सतर्कता प्राप्त कर सकेगा। शासन-पद्धति में पुरातन प्रणाली की अपेक्षा वर्तमान प्रणाली में तथा आधुनिक दर्शन की प्रमाणिकता में भी अब बड़ा सुधार हो गया है और क्रमशः इनमें और भी अधिक सुधार होने की आशा है।

६. यदि दार्शनिक अध्यवसाय से केवल गवेषणात्मक उत्सुकता के शमन के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ न भी दीख पड़ता हो तो भी यह हमें हेय नहीं है, क्योंकि यह मानव जाति को उपलब्ध अनेक मनोविनोद के साधनों में सर्वथा निरुपाय आनन्द का साधन अवश्य है। विज्ञान एवं ज्ञान के पथ पर चलना जीवन का सबसे मधुर एवं निरुपाय मार्ग है और जो कोई भी इस मार्ग में स्थित कठिनाईयों को दूर कर सके अथवा इसमें नयी शाखा उद्घाटित कर सके उसे अवश्य ही मानव जाति के उपकारकों में मानना चाहिए। और यद्यपि ये गवेषणाएँ कष्टप्रद एवं श्रमकारिणी हैं, फिर भी ये सुन्दर स्फूर्तिपूर्ण स्वास्थ्य के साथ-साथ एक प्रकार के व्यायाम का काम करती हैं और अपनायी जाने पर अन्वेषक को एक अद्भुत आनन्द भी देती हैं यद्यपि जन सामान्य को यह श्रमावह एवं भारस्वरूप प्रतीत होती है।

गम्भीर सूक्ष्म दर्शन की इस गहनता पर केवल कष्टप्रद एवं अमकारिता के नाते ही आपत्ति नहीं उठायी जाती है, वरन् ऐसा भी कहा जाता है कि यह अनिश्चितता एवं भ्रमों का अनिवार्य जन्मस्थान है। यह आपत्ति आध्यात्म विज्ञान के अधिकतर भाग पर उठायी जा सकती है, क्योंकि वास्तव में आध्यात्म विद्या सही अर्थ में विज्ञान नहीं कही जा सकती। यह कहा जाता है कि अध्यात्म-विचार मानव के निरर्थक गर्व का परिणाम है जो व्यर्थ ही बोधातीत विषय में प्रवेश करने की चष्टा करता है, अथवा जन समूह में व्याप्त, भ्रांत धारणाओं को दार्शनिक ताना-बाना पहनाता है। आम मैदान से भगाये जाने पर ये भ्रमात्मक विचार मस्तिष्क की किसी अरक्षित राह पर धाबा बोलने के लिए छुपे बैठे रहते हैं और अवसर पाने पर मानव मास्तिष्क को धार्मिक भय और मान्यताओं से भरपूर कर देते हैं। इनका दृढ़ से दृढ़ बैरी भी यदि क्षण भर असावधान हो जाय

तो इनका शिकार बन जाता है और कई लोग तो कायरता और मूर्खता के कारण स्वयं ही शत्रुओं के लिए किले के दरवाजे खोल देते हैं और स्वयं उन्हें वैधानिक शासक मानकर आदर एवं विनय के साथ स्वागत करते हैं।

७. परन्तु क्या यह कारण इसके लिए पर्याप्त है कि दार्शनिक अपनी गवेषणाओं से बाज आ जाय और ऐसी मान्यताओं को अपने-अपने घरों में जमी रहने दें ? क्या यह उचित न होगा कि इन धारणाओं के गुह्य से गुह्य आगार में प्रवेश कर उनके साथ संघर्ष किया जाय ? यह एक व्यर्थ की आशा है कि मानव बार-बार निराश होने पर, स्वयं ही इन हवाई कल्पनाओं को त्याग देगा और मानवीय बुद्धि का उचित क्षेत्र ढूँढ़ निकालेगा। कारण यह है कि बहुत-से लोगों की ऐसी व्यर्थ की कल्पित चर्चाओं में नैसर्गिक रुचि रहती है, इतना ही नहीं बल्कि, मैं यह भी कह सकता हूँ कि तर्कमूल विद्वानों में ऐसी अन्ध निराशाओं के लिए कहीं भी स्थान न होना चाहिए। पूर्ववत् प्रयत्न चाहे कितने ही असफल क्यों न हुए हों तथापि इस आशा के लिये सदा अवकाश है कि कठोर श्रम, सद्भाग्य, एवं आगामी पीढ़ी का बुद्धि-वैभव, उन आविष्कारों में समर्थ हो जाय जो पिछली पीढ़ियों को ज्ञात न थे। प्रत्येक धीर, धीमान को अपने कठोर परिश्रम का पारितोषिक प्राप्त होता ही है और वह अपने पूर्वजों की असफलताओं से हताश होने की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहित ही होता है। अतएव समस्त अध्ययन को इन दुर्वोध प्रश्नों से मुक्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि मानव बुद्धि के सार्थक स्वरूप पहचानने के लिए गम्भीर विमर्श किया जाय। और उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य का ठीक-ठीक विश्लेषण कर यह सिद्ध कर दिया जाय कि इस प्रकार की निर्मूल और असम्बद्ध मान्यताओं को स्थान देने में विद्वान् असमर्थ एवं अयोग्य हैं। हमें इस परिश्रम पर जुट जाना चाहिए ताकि हम सदा के लिए सुखपूर्वक रह सकें और सावधानी के साथ असली अध्यात्म-विद्या का विकास करते रहें जिससे मिथ्या ज्ञान (विपर्यय) का विध्वंस हो सके। प्रमाणिक तर्क विविध प्रकृति के मानवों के लिए एक रामबाण औषधि है, जो उस कठिन दर्शन एवं आध्या-

त्मज्ञान के भूत को उन्मूलित कर सकता है जो लौकिक मान्यताओं से घुल-मिल कर असावधान विचारकों के लिए भूल-भूलैया बन, व्यर्थ ही उसको विज्ञान का रूप दे देता है।

८. अधोतव्य विषय के अनिश्चित एवं अग्राह्य अंश को हेय सिद्ध करने के अतिरिक्त इसके साक्षात् लाभ भी अनेक हैं जो मानव प्रकृति की शक्तियों के ठीक-ठीक अध्ययन से प्राप्त हो सकते हैं। मनोव्यापार की यह एक विशेषता है कि यद्यपि वे सदा हमारे ही साथ रहते हैं तथापि अन्वेषण के विषय बनाये जाने पर वे एकदम गुह्य हो जाते हैं और हमारी दृष्टि उन सीमाओं को उतना नहीं देख पाती कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् कर हमें उनका तात्त्विक स्वरूप बतला सके। मानसिक व्यापार वास्तव में इतने सूक्ष्म हैं कि वह एक ही रूप एवं अवस्था में अधिक काल तक नहीं रह सकते और उनका बोध उतने ही सूक्ष्म अवलोकन द्वारा करना चाहिए जो हमारी प्रकृति का सिद्धधर्म है और जिसका विकास अभ्यास एवं मनोयोग द्वारा और भी अधिक किया जा सकता है। विज्ञान का वह भाग कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकता जो अन्तःकरण की विविध वृत्तियों को पहचानने, एक दूसरे से पृथक् तथा समुचित रूप से वर्गीकरण करके उन्हें विचार एवं विमर्श का विषय बनाकर उसके रूप को परिष्कृति करे। पृथक्करण एवं वर्गीकरण का इतना मूल्य तब नहीं रहता जब उसका सम्बन्ध इन्द्रियगोचर बाह्य विषयों के साथ हो, परन्तु वही जब आन्तरिक मनोव्यापारों के सम्बन्ध में हो तो उसका मूल्य अवश्य ही तदर्थ किये हुए श्रम के अनुसार कहीं अधिक हो जाता है। और यदि हम किसी भी कारण इस मानसिक भूगोल से अथवा मन के विभिन्न अवयवों तथा शक्तियों के चित्रण से अधिक आगे न बढ़ जायें, तो भी यहाँ तक पहुँचना ही सर्वथा सन्तोषजनक है, और यह ज्ञान जितना अधिक स्फुट होने लगे, जो वास्तव में स्फुट नहीं है, उतना ही इसका अज्ञान तो और भी अधिक ग्रहणीय होना चाहिए।

और यदि हम अपने विचार में ऐसे पक्षपाती न बन जायें कि अन्य तर्क एवं व्यापार ही नष्ट कर दें तो हमें यह भी शंकास्पद नहीं है कि मानव

का मस्तिष्क विविध शक्तियों से सम्पन्न है और ये शक्तियां एक दूसरे से विभिन्न हैं । इनमें जो समान दीख पड़ती है वे भी सूक्ष्म विचार के पश्चात् पृथक् प्रतीत होने लगती है, फलतः इस विषय के समस्त विचारों में सत्यता एवं मिथ्यात्व उपलब्ध हो सकता है जिसका विवेक मानव बुद्धि के लिए अगम्य नहीं है । इसी प्रकार के और भी अनेक स्फुट भेद हैं; जैसे इच्छा और बुद्धि में, कल्पना और कामनाओं में—जो हर मानव समझ सकता है, इसी प्रकार अन्य सूक्ष्म दार्शनिक विभेद भी इसके अन्दर छिपे हुए हैं यद्यपि वे कुछ दुर्बोध हैं । इस सम्बन्ध में कुछ आधुनिक निदर्शन हमें इस विद्या की दृढ़ता एवं निर्णयात्मकता का ज्ञान करा सकते हैं जो हमें वैज्ञानिक गवेषणाओं द्वारा उपलब्ध हुए हैं । फिर क्या यह हमारे लिए उचित होगा कि हम उन विचारकों के श्रम का तो मूल्य करें जो हमें दूरवर्ती नक्षत्र-मण्डल की स्थिति अथवा अनुपमता का तो बोध कराते हैं, पर जो हमारे जीवन एवं शरीर से निकटतम सम्बन्ध वाले मन के अवयवों का सफलतापूर्वक विश्लेषण करके हमें उसका सही चित्र उपस्थित करते हैं उनकी हम अवज्ञा करें ।

९. तो क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि दर्शनशास्त्र यदि सावधानी से विकसित किया जाय और जनता के उचित ध्यान द्वारा प्रोत्साहित किया जाय तो वह अपनी गवेषणाओं को और आगे बढ़ा कर किसी न किसी मात्रा में हमारे उन आन्तरिक स्रोतों एवं सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकाले जिनके द्वारा मानव अपने विभिन्न व्यापार में प्रेरित होता है । ज्योतिषियों ने सदियों तक बाह्य दृश्यों को देख, ज्योतिर्ज्वल की गति, अनुक्रम एवं आयाम को सिद्ध करने के प्रयासों में ही सन्तोष किया है । और फिर, एक दार्शनिक का प्रादुर्भाव हुआ जिसने विशुद्ध तर्क के बल पर ही उन शक्तियों और नियमों का अन्वेषण किया जिनके द्वारा ग्रह गति प्रेरित एवं नियंत्रित होती है । इसी तरह, प्रकृति के इतर स्वरूप को समझने के भी प्रयास किये गये हैं । तब कोई कारण नहीं कि उसी लगन एवं अवधान के साथ हमें मानव की मानसिक शक्ति एवं सम्पत्ति के सम्बन्ध में अन्वेषण के अध्यवसाय में पूरी सफलता न हो । यह सम्भव है कि मनोव्यापार

की एक क्रिया अथवा नियम अन्य क्रिया एवं नियम पर अवलम्बित हो जिससे कि एक और सामान्य तथा व्यापक सिद्धान्त का निगमन किया जा सके। सम्भवतः इस दिशा में सावधान प्रयास करने के पूर्व यह जानना कठिन हो सकता है कि इस दिशा में किया हुआ अन्वेषण हमें किस कोटि तक पहुँचाने में समर्थ होगा। परन्तु यह निश्चित है कि इस दिशा में प्रतिदिन ऐसे लोग भी प्रयास प्रस्तुत करते हैं जो प्रायः अत्यन्त असावधान विचारक हैं। अतएव इससे अधिक उचित और कुछ नहीं हो सकता कि हम पूर्ण अवधान एवं ध्यान से इस सत्त्वान्वेषण में जुट जायें—कारण, यदि यह विषय मानव बुद्धिगम्य है तो अवश्य ही यह सुख की बात होगी कि हम उस तत्त्व को पा जायें, और यदि नहीं, तो हम इस मुधा प्रयास से सदा के लिए विदा माँग लें। इस अन्तिम निर्णय पर हमें सहसा नहीं पहुँचना चाहिए क्योंकि यह सर्वथा अवांछनीय है। कारण, इस निर्णय पर पहुँचना दर्शन की उपादेयता एवं शोभा को कितना घटा देगा। नीतिज्ञों ने मानव निन्दा अथवा स्तुति को प्रेरित करने वाली क्रियाओं के समूह एवं विभेदों के सम्बन्धों में विचार करते हुए सदा ही ऐसे किसी एक सामान्य सिद्धान्त की खोज करने का यत्न किया है जिन पर कि इन विभिन्न भाव का उद्गम अवलम्बित हो सके और यद्यपि इस प्रयास में वे कभी-कभी निशान से आगे बढ़ गये हैं, तथापि यह स्वीकार ही करना होगा कि यह अपराध भी उनका क्षम्य है क्योंकि अन्त में उनका उत्साह एक ऐसे सिद्धान्त को स्थिर कर ही सका जिसके अन्तर्गत समस्त गुण-दोष आ सकें। इसी प्रकार का प्रयास आलोचकों, तार्किकों एवं कूटनीतिज्ञों का भी रहा है। उनके प्रयास सर्वथा निष्फल नहीं कहे जा सकते। यद्यपि यह निश्चित है कि अधिक समय अधिक विमर्श, एवं मनोयोग से, ये विद्याएं भी अधिक पूर्णरूप प्राप्त कर लेतीं। अतएव, ऐसी विचार-परम्पराओं को सहसा त्याग देना, मानव जाति पर अपने अपरिष्कृत नियमों एवं सिद्धान्तों को थोप देने वाली परम साहसी विधेयात्मक दर्शन विचार से भी कहीं अधिक विवेकहीन सिद्ध होगी। तो क्या हुआ यदि मानव प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली यह तर्क प्रणाली सूक्ष्म

एवं दुर्बोध हो ? इससे उनकी असत्यता तो सिद्ध नहीं होती । हां, यह आशंका तो अवश्य होती है कि यह विषय जो कि इतने बुद्धिमान् और गम्भीर विचारकों की दृष्टि से ओझल रहा हो स्फुट एवं सुगम नहीं हो सकता । अतः इस खोज में हमें चाहे कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, हमें उसका पर्याप्त प्रतिफल न केवल ज्ञान, परन्तु सुख के रूप में भी अवश्य मिलेगा यदि इनके द्वारा हम इन अवर्णनीय महत्व के विषयों पर उपलब्ध ज्ञानराशि में कुछ की परिवृद्धि कर सकें ।

१०. फिर भी, इन विचारों की सूक्ष्मता उपयोगी नहीं वरन् कुछ हानिकर ही है । संभवतः यह कठिनाई सावधानी एवं कला के द्वारा और अनावश्यक बाल की खाल की उलझन में न पड़ने से दूर की जा सके । अतएव प्रस्तुत विवेचन में हम इसी तरह कतिपय उन विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा कर रहे हैं जिनके अनिश्चित रूप ने बुद्धिमानों को और अपने अगम्य रूप ने अज्ञों को आज तक इन से दूर रखा है । यह कितना सुख का विषय हो यदि हम गम्भीर विमर्श को स्फुटित, एवं सत्य को नवता से संयोजित कर दर्शन के विभिन्न पथों की सीमाओं को एकस्थ करने में समर्थ हों । और यह तो और भी अधिक मुख का विषय हो यदि हम सुगम रीति से तर्क करते हुए सूक्ष्म दर्शन के उन आधारों को दूर कर सकें जिन्होंने आज तक संशित मान्यताओं को आश्रय दिया और अविवेक तथा मिथ्यात्व को असलियत का जामा पहना रखा है ।

द्वितीय परिच्छेद

प्रत्ययोद्गम

११. हर कोई इस बात को सहज ही मान लेगा कि मानसिक अनुभूतियों में परस्पर महान् विभेद है—यथा—वह अनुभूति जिसमें वह प्रत्यक्ष रूप से कठोर आतप का कण्ट पा रहा हो अथवा सहज उष्णता का सुख ले रहा हो और वह अनुभूति जिसमें वह पूर्वानुभव का स्मरण करता हो अथवा अपनी कल्पना के बल उसको पूर्वाभासित कर रहा हो। मानस शक्तियाँ चाहे कितनी ही सचाई के साथ इन्द्रियजनित प्रत्यक्षानुभूति की नकल का अभिनय क्यों न करें, तथापि वे प्रत्यक्षानुभूति की सजीवता एवं तीव्रता को कदापि नहीं पहुँच सकती। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि जब स्मृति या कल्पना अपने पूर्ण रूप में उपस्थित हो तब वे विषय को इतनी यथार्थता के साथ प्रस्तुत करती हैं कि हमें ऐसा लगता है कि हम उसका अनुभव प्रत्यक्षरूप से ही कर रहे हो। तथापि वे सजीवता की उस कोटि तक नहीं पहुँच सकतीं जिसमें प्रत्यक्षा-प्रत्यक्ष के भेद लुप्त हो जाय। कविता के समस्त वर्ण चाहे कितने ही मनोहर क्यों न हों वे प्राकृतिक विषय का चित्रण उस सीमा तक कदापि नहीं कर सकते जिसमें वर्णन हो स्वयं वर्ण्य बन जाय। कल्पना कितनी ही रुचिर क्यों न हो वह मन्द से मन्द प्रत्याक्षानुभूति से सदा हीन हो जाती है।

इस प्रकार का विभेद अन्य मानसिक अनुभूतियों के सम्बन्ध में भी पाया जाता है। क्रोधाविष्ट पुरुष के अनुभव उस व्यक्ति के अनुभवों से अवश्य भिन्न होते हैं जो क्रोध की कल्पना मात्र कर रहा हो। जब हम अपने अतीत भावों का स्मरण करते हैं तो हमारी कल्पना अवश्य ही उनका यथार्थ प्रतिरूप उपस्थित करती है और उस विषय का अनुकरण भी करती है परन्तु जब उनकी तुलना हम प्रत्यक्षानुभूति के स्वरूप से करते हैं तो कल्पना के वर्ण फीके और निर्जीव ही प्रतीत होते हैं। इन दो

प्रकार की अनुभूतियों में विवेक करने के लिए किसी सूक्ष्म दृष्टि अथवा दार्शनिक मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं है।

१२. अतएव हम मानसिक अनुभूतियों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : जिसका आधार उनकी तीव्रता एवं सजीवता के भेद पर स्थित है। जो कम तीव्र या कम सजीव होते हैं हम विचार अथवा कल्पना कह सकते हैं। दूसरे अनुभूतियों के वर्ग की सामान्य संज्ञा हमारी तथा अन्य कई भाषाओं में अनुपलब्ध है। इसका कारण मैं यह समझता हूँ कि शायद दार्शनिक क्षेत्र के अतिरिक्त सामान्य व्यवहार में ऐसी अनुभूतियों को सामान्य संज्ञा देने की आवश्यकता कदाचित् प्रतीत न हुई हो। अतएव हम इस सम्बन्ध में कुछ स्वतंत्र हैं और हम उन्हें संस्कार कह सकते हैं जिसका तात्पर्य साधारण वाच्य से कुछ पृथक् सा है। मेरा आशय 'संस्कार' पद से यह है कि संस्कार उन सब सजीव अनुभूतियों को कह सकते हैं जो हमें इन्द्रियजन प्रत्यक्ष से होती हों अथवा इच्छा, अनिच्छा, अथवा राग, द्वेष आदि के रूप में प्रकट होती है। इस दृष्टि से 'संस्कार' कल्पना से भिन्न माने जा सकते हैं और दोनों की सजीवता एवं तीव्रता में भेद हम अपनी अनुभूतियों पर परामर्श करने पर स्वयं ही समझ सकते हैं।

१३. आपाततः, कोई वस्तु इतनी अमयदि नहीं पायी जाती जितनी कि मानव विचारधारा जो समस्त मानव शक्ति एवं अधिकार से परे होकर मानव प्रकृति तो क्या, वह यथार्थ ही की सीमा में नहीं बँध पाती। कारण, दानवों की कल्पना करने में अथवा विचित्र आकृतियों एवं रूपों को मानसिक चित्र देने में उतना ही आयास करना होता है जितना कि किसी स्वाभाविक अथवा सुपरिचित वस्तु के चित्र ग्रहण में होता है। हमारा शरीर तो इसी एक पृथ्वी की सीमाओं में ही कठिनाई और दुख से रेंग पाता है पर हमारा मन तो हमें कल्पना द्वारा एक क्षण में सृष्टि के अनेक सुन्दर लोकों की सैर करा देता है। इतना ही नहीं परन्तु सृष्टि से भी पूर्ववर्ती अव्यवस्थित प्रकृति के अन्तर्गत में भी विहार करा सकता है। जो कभी देखा-सुना भी नहीं है उसकी भी कल्पना करा देता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परस्पर नितान्त विरोधी विषयों को छोड़ अन्य

कोई भी विषय कल्पनाशक्ति की सीमा से बाह्य नहीं है ।

परन्तु यद्यपि हमारी कल्पनाशक्ति अबाध स्वातंत्र्य लिए हुए दीखती है तथापि यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट है कि मन की भी सीमाएँ अत्यन्त संकीर्ण हैं और उसकी यह रचनात्मक शक्ति, बाह्यान्द्रिय अथवा आन्तरिन्द्रिय के गोचर विषयों द्वारा उपस्थित पदार्थों का सम्मिश्रण, परिवर्तन, संकोचन अथवा स्थानान्तरीकरण के व्यापार तक ही सीमित है । जब हम सुमेरु की कल्पना करते हैं तो हम केवल पूर्वकृत प्रत्यक्ष दो पदार्थ, सुवर्ण एवं पर्वत को एकत्र कर देते हैं । एक सुशील अश्व की हम कल्पना कर सकते हैं, कारण, हमें सौशील्य का अलग से बोध है जिसे हम अश्व की मूर्ति से मिला देते हैं । संक्षेप में यह कहना पर्याप्त है कि हमारी कल्पना के समस्त विषय हमारे बाह्य अथवा आभ्यान्तरिक भावों से ही उद्भूत हैं । उनका सम्मिश्रण अथवा संयोग हमारी मानसिक इच्छा पर निर्भर है । अथवा यदि दार्शनिक भाषा में कहा जाय तो यह होगा कि हमारी समस्त निर्वल अनुभूतियाँ अधिक तीव्र और सजीव अनुभूतियों की अनुकृति मात्र है ।

१४. उपर्युक्त साध्य को प्रमाणित करने के लिए मैं आशा करता हूँ कि दो ही तर्क पर्याप्त होंगे । हमारे विचार कितने ही सम्मिश्र या उदात्त क्यों न हों, हम जब उनका विश्लेषण करते हैं तो ऐसे प्रतीत होते हैं कि वे किसी न किसी पूर्वानुभूत भाव की ही अनुवृत्तियाँ हैं जो विचार प्रथम आलोक में पूर्वानुभूत भाव से अत्यन्त दूरवर्ती एवं स्वतंत्र प्रतीत होते हैं वे भी सूक्ष्म अवलोकन के पश्चात् उन्हीं से समुद्भूत पाये जाते हैं । ईश्वर की कल्पना जो हमें ईश्वर को चिद्रूप, ज्ञानसम्पन्न एवं सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में होनी है वास्तव में वह हमारे उस मनोव्यापार से निकलती है जिसमें हम उसके सद्गुणों एवं ज्ञान की सत्ता को अपरिच्छेद्यरूप में बढ़ा-चढ़ा कर कर करते हैं । इस विमर्श को हम चाहे जितनी दूर तक आगे ले जाय परन्तु हम सर्वत्र यही पायेंगे कि हमारा हर विचार हमारे किसी न किसी पूर्वभाव का संस्कार मात्र है । जो लोग यह कहेंगे कि यह तर्क सर्वत्र सत्य अथवा निरपवाद नहीं है उनसे खण्डन के लिए इतना

ही कहना पर्याप्त होगा कि वे ऐसा एक भी उदाहरण प्रस्तुत करें जो यह निर्दिष्ट करे कि हमारे विचार पूर्वानुभूति से ही प्रादुर्भूत नहीं हैं। उस स्थिति में यह भार हम पर होगा कि अपने सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए हम ऐसे संस्कार अथवा सजीव प्रत्यक्ष उपस्थित करें जिनसे कि उनका निर्माण हुआ हो।

१५. दूसरी युक्ति—यदि किसी भी ज्ञानेन्द्रिय दोष के कारण मानव किसी खास प्रत्यक्ष के ग्रहण करने में असमर्थ हो तो—यह पाया गया है कि वह तत्सदृश कल्पना का भी अनुभव नहीं कर पाता है—जैसे अन्धे को रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता और न बहिरे का शब्द का। यदि उसका वह दोष दूर करा दिया जाय और उसके लिए नये प्रत्यक्षों का स्रोत खोल दिया जाय तो अवश्य ही नयी भावनाओं के लिए भी द्वार खुल जायेंगे और उसे नये विषयों को ग्रहण करने में कोई भी कठिनाई न होगी। ठीक उसी प्रकार की स्थिति यह भी है कि जिसमें व्यक्ति को इन्द्रिय ग्राह्य विषय का सन्निकर्ष ही कभी न हुआ हो। उदाहरणार्थ किसी नीग्रो या एस्कमो को मदिरा के स्वाद की कल्पना न होगी। अपनी जाति के सहज भावों अथवा मनोदौर्बल्य के उदाहरण बहुत ही कम होंगे, तथापि इसी तत्व को कुछ कम मात्रा में हम यहाँ भी पाते हैं, जैसे : विनम्र स्वभाव के व्यक्ति को दारुण प्रतिशोध अथवा नृशंसता के भावों की कल्पना ही नहीं सकती और कभी स्वार्थी को उदारता अथवा सौहार्द्र के उद्रेक की। यह तो सहज ही माना जा सकता है कि और लोगों में ऐसी अनेक भावों की उत्पत्ति हो सकती है जिनकी हमें कोई कल्पना भी न हो। कारण उन भावों का प्रत्यक्ष हमें तो कभी उस तरह हुआ नहीं जिस तरह कि सदा हमें और वस्तु का होता है—यानी कि केवल वस्तु सन्निकर्ष के द्वारा। हाँ, एक प्रत्युदाहरण अवश्य है जो यह बतलाता है कि विचारों के लिए यह नितान्त असम्भाव्य नहीं कि वे तत्सहोदर संस्कारों के बिना भी उत्पन्न हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि यह सभी मान लेंगे कि चक्षु-रेन्द्रिय से गृहीत विभिन्न शाब्दिक प्रतिमाओं में परस्पर विभेद होता ही है, यद्यपि वे आपस में सदृश भी हैं। और यदि यह विभिन्न वर्णों के

विषय में सत्य है तो एक ही वर्ण के विविध रूपों अथवा आभा (छाया) के सम्बन्ध में भी यह उतना ही सत्य है और प्रत्येक आभा इतर आभा से अवश्य ही विविक्त होती है और विभिन्न मानस प्रतिमाओं को उत्पन्न करती है। यदि इसे अस्वीकार किया जाय तो एक ही रंग की विविध आभाओं में लगातार मात्रा भेद करने से एक वर्ण अपने से अनजाने ही मिल जायगा और यदि उन दो में विभेद का कोई आधार नहीं माना जाय, तो दो विविक्त सीमाओं पर वर्तमान वर्णभेद नष्ट हो जायगा और ऐसा होना अवश्य ही असंगत होगा। मान लो, कि एक पुरुष तीस साल तक बराबर अपनी दृष्टि का सुख लेता रहा है और सिवाय नीले रंग के किसी एक विशेष आभा को छोड़कर, जिसका प्रत्यक्ष होने का उसे कभी सौभाग्य प्राप्त ही नहीं हुआ, सभी अन्य विविध वर्ण के अन्तर से परिचित है, उसके सामने उस एक नीले रंग की उस खास आभा को छोड़कर अन्य वर्णों की सभी आभाएँ रखी जायँ—गहरी से गहरी लगातार हल्की से हल्की तक; तो यह स्पष्ट है कि वह अवश्य ही उन आभाओं की कतार में यह जगह अवश्य महसूस कर लेगा जहाँ भी वह अदृष्टपूर्व आभा अनुपस्थित है और वह यह भी अनुभव करेगा कि उस स्थान पर आसपास के वर्णों में भारी फ़र्क है। तो अब मैं यह पूछता हूँ कि क्या वह पुरुष अपनी कल्पना से उस कमी को पूरा कर सकेगा और उस अनुपस्थित आभा की कल्पना कर सकेगा, जिसका कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसे पूर्व में कभी भी नहीं हुआ था? मुझे विश्वास है कि ऐसे कम विचारक होंगे, जो इसे मान लेंगे कि वह पुरुष ऐसी अवस्था में अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर उस अपरिचित आभा का ध्यान न कर पायेगा और यह उदाहरण यह सिद्ध कर देगा कि सीधी-सादी कल्पना या विचार हर जगह अपने सहचर संस्कार की अपेक्षा नहीं रखते। परन्तु ऐसा उदाहरण तो एक-आधा ही हो सकता और इसके आधार पर अपने सामान्य नियम को बदलना सर्वथा असंगत होगा।

१७. अतः यहाँ एक सिद्धान्त प्राप्त होता है जो न केवल सीधा और सुगम ही है, परन्तु उचित प्रयोग करने पर हर दलील को सुगम बना

देगा और जो दार्शनिक तर्कों में उपस्थित कलंक और जंजाल को एक दम हटा देगा। समस्त प्रतिभास विशेषकर वे जो स्वभावतः दुर्बोध और अस्पष्ट होते हैं, मन उन पर बहुत ही दुर्बल अधिकार रख पाता है, वे सदृश भावनाओं से धूल-मिल कर एकसा प्रतीत होने लगते हैं और जब किसी एक प्रतिभास को कोई खास नाम दे दिया जाता है तो अर्थ विशेष न होते हुए भी हमें यही भास होता है कि उस पद से किसी निश्चित मानसिक प्रतिभा का संकेत है। हालांकि वास्तव में ऐसा नहीं है। हमारे समस्त संस्कार अर्थात् भावनाएँ चाहे वे वाद्घ हों अथवा आभ्यन्तर, निश्चित रूप से सुस्पष्ट एवं तीव्र होती हैं और उनकी सीमाएँ अधिक निश्चित रूप में निर्धारित की जा सकती हैं और उनके सम्बन्ध में गलती करना अथवा भेद को न पहचान सकना आसान नहीं होता। अतएव जब हम किसी दार्शनिक शब्द के विषय में ही कही सन्देह रखते हों :—जैसा कि अधिकांश होता है :—हमें केवल इतना ही विमर्श करना चाहिए कि वह कल्पित प्रतिभास किस संस्कार पर आधारित है। और यदि यह जान लेना असम्भव हो तो हमारा सन्देह स्थिर हो जायेगा। हमें आशा है कि प्रतिभासों को इतने सुस्पष्ट रूप में रख देने से उस विवाद का अन्त हो जायगा जो उनके स्वभाव अथवा तात्त्विकता^१ के विषय में उठता रहता है।

१. यह सम्भाव्य है कि प्रागनुभव प्रत्यय के अस्तित्व को न मानने वालों का तात्पर्य केवल यही रहा हो कि समस्त प्रतिभास पूर्वानुभूत संस्कारों के प्रतिरूप मात्र हैं—यद्यपि इतना अवश्य कहना होगा कि इस सम्बन्ध में प्रयुक्त पदावली न तो सावधानी से चुनी गयी थी और न इतनी सुविख्यात थी कि अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में सकल त्रुटियों को अयास्त कर सके। कारण प्रागनुभव प्रत्यय से क्या तात्पर्य है? यदि प्रातिस्विक केवल नैसर्गिक का ही पर्याप्त है तो सब ही मानसिक प्रतिभास या भावनाएँ प्रातिस्विक या नैसर्गिक कही जा सकती हैं। नैसर्गिक का अर्थ कुछ क्यों न हो—चाहें वह असाधारण कृतिम अथवा अद्भुत

संस्कार एवं प्रतिभास का अर्थ उपर्युक्त अर्थ में स्वीकार कर लेने पर, तथा प्रातिस्विक शब्द से मौलिक अथवा किसी पूर्वानुभूत प्रत्यक्ष पर अनावलम्बित आभास का बोध स्वीकृत कर लेने पर हम यह निश्चय-पूर्वक से कह सकते हैं कि हमारे समस्त संस्कार प्रातिस्विक हैं और समस्त प्रतिभास अप्रातिस्विक। मेरी राय में तो लाक महाशय इस प्रश्न में उन रूढ़िवादी अध्यापक वर्ग के फन्दे में फंस गये हैं जो कि अपरिभाषित पदावली का प्रयोग करते हुए व्यर्थ की सी लम्बी दलील में उतर आते हैं और विचार्य प्रश्न के केन्द्र का स्पर्श भी नहीं करते। इसी प्रकार की अस्पष्टता एवं उलझन की पुनरुक्ति अन्य कई विषयों पर भी इसी दार्शनिक के तर्कों में सर्वत्र व्याप्त दीखती है।

का विरोधी ही हो। यदि प्रातिस्विक का मतलब यह हो कि वह हमारे साथ जन्मजात है तो फिर यह दलील व्यर्थ सी प्रतीत होती है क्योंकि उस विचार से कीई फल नहीं है कि हमारे मत का विचारात्मक व्यापार हमारे जन्म से पूर्व या पश्चात् प्रारम्भ होता है। और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतिभास शब्द का प्रयोग लाक आदि के द्वारा प्रायः बड़े अनिश्चित अर्थ में किया गया है, उनके अनुसार 'प्रतिभास' शब्द हमारे प्रत्यक्ष भावनाएँ अथवा वासनाएँ एवं विचारों का वाचक प्रतीत होता है। यदि यही इस शब्द का अर्थ हो तो मैं यह जानना चाहूँगा कि इस कथन में क्या अर्थ है कि प्रेम अथवा स्वहानि के प्रति अरुचि कामोद्वेग आदि प्रातिस्विक नहीं है ?

तृतीय परिच्छेद

प्रत्यय साहचर्य

१८. यह स्पष्ट है कि विविध मनोभावों अथवा विचारों में परस्पर एक नियत सम्बन्ध है और वे मानव-स्मृति अथवा कल्पना के सामने प्रादुर्भूत होते समय एक निश्चित क्रम एवं प्रकार से ही एक दूसरे को प्रकट करते हैं। जब हम किसी गम्भीर विचार अथवा चर्चा में संलग्न होते हैं तब यह प्रतीत होता है कि सहसा प्रादुर्भूत होने वाला कोई खास विचार तत्कालीन विचारधारा में सहसा उपस्थित होने पर एकदम हमारी पकड़ में आ जाता है और दूर हटा दिया जाता है। इतना ही नहीं बल्कि जब हम धारावाहिक अनुक्रमहीन विचार परस्पर में पतित हो जाते हैं तब भी, यदि हम सोचें तो मालूम होता है, कि हमारी कल्पनाएँ लक्ष्यहीन एवं निर्विकल्प नहीं होती परन्तु वहाँ भी विभिन्न विचारों में एक अनुक्रम तथा पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य होता है। यदि हम किसी नियन्त्रित तथा मुक्त वार्तालाप को कभी लिपिबद्ध करें तो तुरन्त ही हमारे सामने उन विचारों की विविध परिवृतियों या अवस्थाओं में कोई न कोई सम्बन्ध अथवा क्रम अवश्य स्फुट हो जायगा। यदि कभी ऐसा सम्बन्ध या क्रम प्रतीत न हो तो उस चर्चाक्रम को भंग करने वाला तुरन्त ही आपको यह बता देगा कि उसके मस्तिष्क में उसी प्रकार का विचार-क्रम अन्तर्निहित था जिसने उसे उस चर्चा को प्रस्तुत करने में प्रोत्साहित किया था। विभिन्न भाषाओं में भी—जहाँ किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध या अन्तर्गत का अस्तित्व नहीं माना जाता—यह पाया जाता है कि सार्थकपदावली चाहे कितनी भी सम्मिश्र क्यों न हो समरेख होती है और एक दूसरे के निकट ही रहती है—यह इस तत्व का निश्चित प्रमाण है कि सीधे-सादे मानव विचार अन्य सम्मिश्र विचारों के साथ-साथ विश्लेषित किये जाने पर किसी व्यापक सिद्धान्त से बँधे हुए पाये जाते हैं जो समस्त मानव जाति पर एक सा प्रभाव जमाए हुए हैं।

१९. यह सिद्धान्त कि 'मानव के विविध विचार सदा परस्पर सम्बद्ध होते हैं' यद्यपि इतना स्फुट है कि इसका अन्वेषण करने की आवश्यकता नहीं तथापि मैं ऐसे किसी दार्शनिक को नहीं जानता जिसने ऐसे सम्बन्धों का परिगणन अथवा वर्गीकरण किया हो—यह विषय जो इतना आकर्षक है मुझे तो विचारों में तीन प्रकार का सम्बन्ध दीख पड़ता है—सादृश्य संबंध, देश या काल का एकाधिकरण सम्बन्ध और कार्य कारण सम्बन्ध ।

मुझे विश्वास है कि इसमें कोई भी सन्देह न करेगा कि ये नियम हमारे विचारों के परस्पर सम्बन्ध के आधार हैं । एक सम्बन्ध हमें स्व-भावतः प्रति रूप से उसके मौलिक रूप की ओर ले जाता है, तो दूसरा भवन के कक्ष की चर्चा के समय हमें अन्य कक्षों के विषय में जिज्ञासा या चर्चा प्रस्तुत करता है । और यदि हम किसी धाव का ध्यान करते हैं तो तज्जन्य वेदना का ध्यान किये बिना हम नहीं रह सकते । तथापि विचारों के परस्पर सम्बन्ध इन्हीं तीन प्रकार के होते हैं । और उसके अन्य प्रकार नहीं हो सकते यह नहीं कहा जा सकता । अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि हम अनेक उदाहारणों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें और विभिन्न विचारों के आधारभूत सम्बन्धों की सूक्ष्मता के साथ गवेषणा करें और तब तक विराम न लें जब तक हम किसी सर्व-सामान्य व्याप्ति के ग्रहण में समर्थ न हो जाय । अधिकाधिक निर्देशनों का विश्लेषण करने पर और अधिकाधिक सावधानी का प्रयोग करने पर हम और भी ऐसे अधिक विश्वास एवं दृढ़ता को प्राप्त कर सकेंगे जिसके बल पर यह कहा जा सकेगा कि हमारा परिगणन हमारे समग्र अन्वेषण के आधार पर प्रमाणित और पूर्ण एवं व्यापक है ।

१ सादृश्य, २ एकाधिकरण, ३, हेतु हेतु मद्भास, ४, उदाहरणार्थ-विरोध अथवा वंषम्य भी विचारगत सम्बन्ध का एक भेद हो सकता है, परन्तु सम्भवतः वह केवल सादृश्य एवं हेतु हेतु मद्भास का सम्मिश्रण मात्र ही कहा जा सकता है—जहां दो वस्तुएं एक दूसरे की विरोधी अथवा परस्पर विषम होती हैं तो एक दूसरे का ध्वंस कर देती हैं, अर्थात् उसके ध्वंस का कारण और ध्वंस का विचार ये दोनों ही उस वस्तु के प्राग्भाव की कल्पना को लेकर ही प्रस्तुत होते हैं ।

चतुर्थ परिच्छेद

बौद्धिक व्यापार सम्बन्धी सन्देहवादी शंकायें

२०. मानव-बुद्धि अथवा अन्वेषण के सकल विषय स्वभावतः दो प्रकार से विभाजित किये जा सकते हैं ? विचार सम्बन्धी और पदार्थ सम्बन्धी । प्रथम वर्ग के अन्तर्गत अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित जैसे विज्ञान रखे जा सकते हैं । संक्षेपतः कोई भी भावात्मक वाक्य जो स्वतः सिद्ध या निर्देशन द्वारा निश्चित हो वह इस प्रथम वर्ग के बौद्धिक व्यापार का विषय है । यथा प्रत्येक कर्ण का वर्ग दो भुजाओं के वर्ग का सम होता है—यह प्रतिज्ञा ऐसी है जो दो आकृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध को बताती है । पांच का तिगुना तीस का आधा है यह प्रतिज्ञा इन्हीं संख्याओं के बीच वर्तमान सम्बन्ध को प्रकट करती है । इस प्रकार की वाक्य प्रतिज्ञाएं केवल विचारात्मक व्यापार से आविष्कृत होती हैं और वह इस पर निर्भर नहीं है कि यह वास्तव में इस विश्व में है या नहीं । यदि प्रकृति में त्रिभुज अथवा वृत्त न भी हो तो भी यूक्लिड निर्दिष्ट प्रतिज्ञाएं सदा के लिए अपनी निश्चित सत्यता अपनाये ही रखती हैं ।

२१. वास्तविक पदार्थों का परामर्श इस प्रकार नहीं किया जा सकता और न उनकी सत्यता के प्रमाण ही पूर्वोक्त वर्ग मुसदृश हो सकते हैं । प्रत्येक वस्तु के प्रतियोगी की सत्ता बिलकुल संभव है, कारण, इसमें कोई विरोध नहीं और प्रतियोगी तथा अनुयोगी दोनों वस्तुओं का बौद्धिक परामर्श समान स्पष्टता तथा सुगमता के साथ हो सकता है मानो दोनों ही के सत्य के लिए विश्व को कोई आपत्ति नही । कल सूर्य उदित न होगा यह प्रतिज्ञा किसी भी अंश में कल सूर्य उदित होगा इस प्रतिज्ञा की अपेक्षा न तो कम माननीय है और न अधिक प्रतिवाद ही का विषय है । अतएव उक्त प्रतिज्ञा की अयथार्थता दिखाने का यत्न व्यर्थ ही होगा । कारण, इसकी अयथार्थता यदि दिखाई जा सकती हो तो

अवश्य यह प्रतिज्ञा प्रतिवाद का विषय होती और स्पष्ट रूप से मन के द्वारा आकलित कदापि न होती।

अतएव यदि तात्त्विक सत्ता अथवा पदार्थगत वास्तविकता हमारे प्रत्यक्ष अथवा स्मृति के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध की जा सकती हो तो उन प्रमाणों का अध्ययन अवश्य ही एक जिज्ञास्य विषय बन जाता है। दर्शन का यह विषय न तो प्रचीन और न अर्वाचीन विद्वानों द्वारा पुरस्कृत किया गया है। अवएव इतने महत्व के विषय में हमारी गवेषणा, शंका एवं त्रुटियों से मुक्त नहीं हो सकती है और वे क्षम्य है जब कि हमें इस दिशा में बिना किसी सहायता एवं दिग्दर्शन के ही आगे बढ़ना है। सम्भवतः यह अवस्था हमारी जिज्ञासा को प्रोत्साहित कर अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। कारण, पूर्वाचार्यों के मत का अभाव हमारे अन्दर के अन्धविश्वास एवं सुरक्षा के भावों को जो समस्त तर्क एवं स्वतन्त्र गवेषणा में महान् हानिकारक हैं ध्वंस कर देगा। मेरी राय में सामान्य दर्शन में दोषों का निकलना तो हमें निराश नहीं बना सकता। प्रत्युत वह उत्तेजक ही सिद्ध होगा जिससे हम जनता के समक्ष कुछ ऐसी बात रख सकेंगे जो उनके सामने कमी न आयी हो।

२२. पदार्थगत वास्तविकता के सम्बन्ध में समस्त तर्क हेतु हेतु-मद्भात्र के नियम पर ही अवलम्बित होते हैं। केवल इसी सम्बन्ध के आधार पर हम यहां अपने तर्क में प्रत्यक्ष एवं स्मृति के बाहर ऊपर तक पहुंच सकते हैं। यदि आप किसी भी व्यक्ति से किसी अनुपस्थित तथ्य पर उसके विश्वास का कारण पूछें—जैसे कि उसका मित्र देश में है या विदेश में—तो वह अवश्य उसका कारण बतायेगा। और वह अवश्य ही वस्तु-परक के होगा जैसे कि उसका पत्र अथवा उसके पूर्वकृत निश्चय। कारण किसी निर्जन प्रदेश में किसी यन्त्र अथवा घड़ी को पाकर मानव यही सोचेगा कि अवश्य वहां कभी कोई न कोई रहता था या आया था। वस्तु सम्बन्धी हमारे सब ही तर्क इसी प्रकार के होते हैं। साथ ही साथ यह भी माना जाता है कि वर्तमान तथा अनुमेय तथ्य में एक प्रकार का सम्बन्ध होता है। यदि प्रत्यक्ष एवं अनुमति विषय के बीच कोई

सम्बन्ध न हो तो सारा अनुमान एकदम खतरनाक हो जायगा। अन्धेरे में एक स्पष्ट स्वर अथवा संगत सम्वाद सुनने पर हमें किसी पुरुष के अस्तित्व की कल्पना होती है। क्यों—१ कारण यही है कि मानव जन्म स्वर या सम्वाद का अवश्य ही मानव के अस्तित्व से निकट सम्बन्ध है। इस प्रकार के अन्य तर्कों का भी यदि हम सांगोपांग विश्लेषण करें तो यह प्रतीत होगा कि वे तर्क भी हेतु हेतु मद्भाव पर ही आधारित हैं और यह भी ज्ञात होगा कि यह सम्बन्ध साक्षात् है या पारस्परिक अथवा निकट या दूर प्रकाश एवं उष्णता अग्नि के सहधर्मी परिणाम हैं और एक ही सत्ता के बल दूसरे की सत्ता अनुमानित की जा सकती है।

२३. यदि हमें इस प्रकार के प्रमाण से सन्तुष्ट होना है जो हमें वस्तु सत्ता को प्रमाणित करता है तो हमें यह भली प्रकार जानना चाहिए कि कार्य से कारण का ज्ञान किस रीति से होता है।

सामान्यः मैं यह निर्विवाद कह सकता हूँ कि कार्य कारण भाव का ज्ञान कहीं भी प्रास्तविक तर्क द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु अनुभाव से ही होता है। जब हम यह जानते हैं कि दो वस्तुओं का अविनाशीव सम्बन्ध है। कोई व्यक्ति चाहे कितनी ही बलवती तार्किक शक्ति एवं बौद्धिक योग्यता का क्यों न हो यदि उसके सामने एक सर्वथा नूतन पदार्थ रख दिया जाय तो उस वस्तु के समस्त इन्द्रियग्राह्य धर्मों का सूक्ष्मतम अवलोकन करने पर भी वह न उसके कारणों को और कार्यों को ही ढूँढ़ निकाल सकेगा। यद्यपि प्रारम्भ से ही एडम की बौद्धिक शक्ति सर्वथा पूर्ण मान ली जाय तो भी वह जल को पारदर्शकता एवं अनुस्यूत वहनशीलता को देखकर यह कभी नहीं जान सकता कि जल सांस रोककर उसका गला घोट सकता है और वह उसे जलाकर रख देगा। ऊपरी इन्द्रिय-ग्राह्य आलोक से न तो किसी वस्तु का कारण और न उसका परिणाम ही कभी ज्ञात हो सकता है और न हमारी बुद्धि पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में बिना अनुभव की मदद के तर्क ही कर सकती है।

२४. कार्य एवं कारण बुद्धि या तर्क से नहीं वरन् अनुभव से जाने जाते हैं—यह सिद्धान्त तत्परता से स्वीकृत किया जा सकेगा, कारण, हम

जानते हैं कि जो पदार्थ पूर्व परिचित नहीं हैं उससे जन्य परिणाम के सम्बन्ध में भी हम कोई पूर्व कथन नहीं कर सकते। किसी प्रकृति विज्ञान से हीन व्यक्ति के सामने दो संगमरमर के टुकड़े रख दिये जाय तो वह इस बात को कभी न जान सकेगा कि उन्हें समरेख, रखकर, उन्हें पृथक करने में बड़े प्रयास की अपेक्षा होगी। और उन पर पार्श्वगामी आघात करने पर वे बड़ी आसानी से टूट जाते हैं। प्रकृति की कम समानता रखने वाली अनेक स्थितियों में भी इस तरह का ज्ञान अनुभव मात्र से ग्राह्य माना जाता है। वैसे ही यह कल्पनातीत है कि बम का विस्फोट अथवा चुम्बक का आकर्षकत्व कभी अनुभव निरपेक्ष तर्क मात्र से जाना जाय। उसी तरह पेचीली मशीन अथवा उसके अवयवों के अपरिचित योजना पर निर्भर परिणामों के सम्बन्ध में हमारा सकल ज्ञान अनुभव साध्य ही है, यह मान लेने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। कौन यह कह सकता है कि वह इस बात का मूल कारण बतला सकता है कि दूध और रोटी मानव के लिए क्यों उचित पोषक है और वही सिंह, व्याघ्र के लिए नहीं है।

परन्तु वस्तुओं के सम्बन्ध में उन तथ्यों को जिनसे कि हम जन्म ही से परिचित हैं पृथक आलोक में नहीं जान सकते। अथवा जो प्राकृतिक निसर्ग के एकदम अनुरूप हों या जो पदार्थों के साधारण स्वरूप पर अवलम्बित हों और जिनका ढांचा अन्तर्निहित सूक्ष्म अंगों पर निर्भर न हो, हम प्रथम आलोक में नहीं जान सकते। हम ऐसा समझने लगते हैं कि ऐसे परिणामों का ज्ञान हम बिना अनुभव के अपनी बुद्धि से ही कर सकते हैं। हम समझते हैं कि हम यकायक इस दुनिया में आते ही तुरन्त अनुमान कर लेते कि विलियर्ड की एक गेंद स्वयं ही दूसरी गेंद को गति प्रदान कर देगी और इस बात को निश्चय के साथ कह सकने के लिये हमें उसकी प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता न होती। रूढ़ि का यही प्रभाव है कि जहाँ कहीं वह बलवती होती है वहाँ वह हमारे नैसर्गिक अज्ञान को छुपा ही नहीं लेती परन्तु स्वयं अपने को भी छुपा लेती है और उसका अस्तित्व हमें ठीक इसी कारण से प्रतीत नहीं होता कि वह सर्वाधिक मात्रा में सर्वत्र वर्तमान है।

२५. समस्त प्राकृतिक नियम तथा समस्त तत्वों की क्रिया निरपवाद रूप से अनुभव मात्र से ज्ञेय होती है—इस सिद्धान्त को स्थिर करने के लिए निम्नलिखित विचार सम्भवतः पर्याप्त होंगे ।

यदि हमारे सामने कोई पदार्थ रखा जाय और फिर उससे जन्य कार्यों के सम्बन्ध में पूछा जाय तो मैं पूछता हूँ कि इस विषय में आप के मन की गति किस प्रकार की होगी ? मन को किसी न किसी परिणाम को ढूँढ़ निकालना होगा जो प्रस्तुत पदार्थ का काय कहा जा सके । और वह अवश्य ही काल्पनिक होगा, क्योंकि कितनी ही बारीक छानबीन अथवा जांच करने पर भी मन उस पदार्थ से सम्भाव्य कार्य की कल्पना नहीं कर सकता । वजह यह है कि कार्य कारण से इतना भिन्न है कि किसी भी तरह वह उसमें अन्तर्गत देखा नहीं जा सकता । विलियर्ड की दूसरी गेंद की स्पन्द पहली गेंद के स्पन्द से बिल्कुल भिन्न है और न वहां कोई ऐसा संकेत है जो दूसरी की सत्ता को सूचित कर दे । पत्थर अथवा किसी धातु का टुकड़ा लीजिये और उसे आकाश में उछालिये, वह निराधार होने के कारण एकदम नीचे आ जायगा । अब यदि इसी बात का हम प्रारम्भिक तर्क के बल सोचें तो क्या उसमें कोई बात है जो हमें भिन्न गति की कल्पना करा के और ऊर्ध्वगति अथवा अन्य किसी प्रकार की गति की कल्पना न करा सके ।

२६. यह तो स्वीकृत है कि मानव बुद्धि के व्यापार की चरम सीमा तार्किक, सादृश्य, अनुभव तथा निरीक्षण के बल पर केवल ऐसे सिद्धान्तों को निर्धारित करने में है जो वस्तुगत के अनेक कार्यजात को कुछ सामान्य कारणों में परिघटित कर सकें । परन्तु इन कारणों के कारण ढूँढ़ निकालने का हमारा यत्न सर्वथा व्यर्थ है और उनके अविष्कार से हमें बौद्धिक सन्तोष ही मिल सकेगा । (वस्तुओं की पहली अथवा बुनियादी जन्मजात जिज्ञासा अथवा अन्वेषण से सदा के लिये बन्द है) आकुंचन, आकर्षण, आंगिक संलग्नता और परस्परिक गति प्रदान आदि ही कुछ ऐसे आभ्यन्तर कारण तथा नियम हैं जिन्हें हम सदा प्रकृत में पाते हैं और यदि सूक्ष्म अन्वेषण के फलस्वरूप हम वस्तु विशेष के ज्ञान को इन सामान्य सिद्धान्तों

तक पहुँचा सकें तो हम अपने आपको पर्याप्त सुखी समझ सकते हैं। हमारा प्राकृतिक ज्ञान कितना ही पूर्ण क्यों न हो वह हमारे अज्ञान को कुछ अधिक काल तक केवल पीछे ढकेले रहता है। संभवतः नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शन कितना ही उच्च क्यों न हो विश्व के अधिकांश को ही समझने में समर्थ है। समस्त दर्शन हमें मानव की दुर्बलता तथा अन्धत्व ही दिखाते हैं और हम चाहे कितना ही उससे बचने या हटाने का प्रयत्न क्यों न करें, वह हमारे सामने प्रतिपद उपस्थित रहता है।

२७. प्राकृतिक दर्शन को सहाय के लिए यदि रेखागणित की भी शरण ली जाय तो वह भी इस दोष को दूर करने में समर्थ नहीं होती और न वह हमें अपने सुप्रसिद्ध तार्किक प्रमाणिकता के द्वारा चरम कारणों के ज्ञान तक ही पहुँचा सकती है। सम्मिश्र गणित विज्ञान इसी मान्यता को लेकर आगे बढ़ता है कि प्रकृति सदा किन्हीं निश्चित नियमों के अनुसार ही काम करती है और सूक्ष्म तर्क तो केवल इन नियमों के शोध में अनुभूति प्राप्त करने अथवा ऐसे स्थल विशेष पर उनका प्रभाव निश्चित करने में सहायक हैं जहाँ वह देश और परिमाण की किसी निश्चित मात्रा पर निर्भर है। उदाहरणार्थ यह एक अनुभव सिद्ध गतिनियम है कि किसी भी गतिमान वस्तु की तीव्रता सदा मिश्र अथवा परिवृद्ध अनुपात में या तद्गत धन द्रव्य और उसके वेग के अनुपात में होगी, फलतः स्वल्प शक्ति भी बड़े से बड़े बाधक को हटा सकती अथवा भारी से भारी बोझ को उठा सकती है यदि हम किसी तरकीब से अथवा यन्त्र द्वारा उस शक्ति के वेग को उतना बढ़ा दें कि वह अपने प्रतिस्पर्धी के बल से अधिक तीव्र हो जाय। हमें इस नियम के उपयोग में सहायक होती है—वह किसी भी यन्त्र विशेष में प्रवेश कर सकने वाले पुर्जे अथवा आकृतियाँ लम्बाई चौड़ाई ठीक-ठीक बता सकती हैं, तथापि इस नियम का आविष्कार स्वयं साक्षादनुभव पर ही अवलम्बित है और केवल तर्क हमें इस ज्ञान के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकता। जब हम प्रागनुभव तर्क करने लगते हैं और प्रत्यक्ष से अनाश्रित रहकर हम किसी भी वस्तु अथवा उसके कारण पर जैसा मन में आये वैसा विचार करने लगे तो

वह शुद्ध तर्क हमें किसी भी द्रव्य के सुस्पष्ट स्वरूप का प्रतिभास नहीं दे सकता। वह उसके परिणाम को नहीं बता सकता और तब तो उन दोनों के मध्य अविनाभाव तर्क अथवा अविच्छेद्य सम्बन्ध को प्रकट करने में तो और भी कम समर्थ है। वह पुरुष निश्चय बहुत ही चतुर होना चाहिए जो केवल तर्क के बल पर यह बता सके कि स्फटिक की उत्पत्ति उष्णता से होती है अथवा हिम शीतजन्य है जब वह इन धर्मों की क्रियात्मकता से पूर्व परिचित नहीं है।

दूसरा भाग

२८. ऊपर प्रस्तुत किये हुए प्रथम प्रश्न का अभी हमें सन्तोषजनक हल प्राप्त नहीं हुआ। प्रत्येक हल नये-नये प्रश्न को उठाता है जो पहले से भी अधिक कठिन होता और आगे विचार करने के लिए हमें बाध्य करता है। जब यह पूछा जाय कि वास्तविक पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे तर्क किस तरह के होते हैं तो उचित उत्तर यही दीखता है कि वे कार्य कारण भाव पर आधारित हैं। और यदि आगे यह पूछा जाय कि इस प्रकार के सम्बन्ध के विषय में हमारे समस्त तर्क एवं निगमन का आधार क्या है तो एक ही शब्द में उसका उत्तर दिया जा सकता है— अनुभव। परन्तु यदि हम इस छानबीन को और आगे बढ़ायें और पूछें कि अनुभव सिद्ध प्रसूत निगमनों की आधारशिला क्या है तो मानना होगा कि यह एक नया प्रश्न है जिसका उत्तर या विवरण देना कहीं अधिक कठिन है। अपने आपको परम बुद्धिमान् और विचारसम्पन्न मानने वाले दार्शनिकों के लिए भी यह टेढ़ी खीर है, जब उन्हें जिज्ञासु प्राश्निकों का सामना करना पड़ता है जो उन्हें उनके उत्तर के हर कोने से ढकेल आखिर किसी न किसी विकट समस्या में डाल देते हैं। ऐसी उलझन से बचने का सबसे सरल उपाय यही है कि दार्शनिक सीमित मात्रा में ही अहम्भाव प्रकट कर और दूसरे के द्वारा आपत्ति उठाये जाने से पूर्व स्वयं ही कठिनाई को जान लें। इससे हम अपने अज्ञान को एक सद्गुण के रूप में परिवर्तित कर सकेंगे इस परिच्छेद में मैं उपर्युक्त प्रश्न हल करने के लिए

निषेधात्मक उत्तर देने का सरल मार्ग अपनाऊंगा और यही कहूंगा कि कारण कार्य के सम्बन्ध का अनुभव हमको न तो तर्क के किसी निगमन से होता है और न किसी बौद्धिक व्यापार से—इस उत्तर के स्पष्टीकरण तथा दृढ़ीकरण की चेष्टा अब फिर करनी है।

२९. यह तो बिल्कुल मान ही लेना चाहिए कि प्रकृति ने हमें अपने रहस्यों से बहुत दूर रखा है और हमें दृश्य पदार्थों के कतिपय बाह्य गुणों का ही परिचय दिया है और हमसे उन शक्तियों एवं सिद्धान्तों को छिपा रखा है जिन पर समस्त पदार्थों का प्रभाव निर्भर है। हमारी इन्द्रियां हमें रोटी का रंग, वजन और सामग्री का बोध कराती हैं परन्तु न हमारी इन्द्रियां और न बुद्धि ही हमें उन गुणों का ज्ञान कराती है जिसके कारण वह मानव शरीर के पोषण तथा आधार के लिये उपयुक्त हो जाती हैं। हमारी इन्द्रियां हमें वस्तु की गति की कल्पना तो करा देती हैं, परन्तु उस अद्भुत शक्ति की भावना हमें कदापि नहीं हो पाती जिससे स्थान परिवृत्ति के साथ-साथ वस्तु सदा गतिमान होती रहती हैं और उस गति को तब तक बनाये रहती है जब तक वह अन्य किसी वस्तु में स्थानान्तरित न हो जाय। इन प्राकृतिक शक्तियों तथा नियमों के सम्बन्ध में अज्ञान रहते हुए भी हम दृश्य वस्तुओं को देख अन्यत्र भी वैसी ही शक्ति की कल्पना कर लेते हैं और वैसी ही परिणाम की आशा करने लगते हैं जैसे कि हमने प्रत्यक्ष रूप से अन्य वस्तुओं में पायी हैं। यदि हमें पहले खायी हुई रोटी जैसी वस्तु ला दी जाय तो हमें पुनः उसके प्रयोग करने में किसी प्रकार हिचक नहीं होती और हम निश्चय से यह आशा कर लेते हैं कि उसके प्रयोग से हमें वैसी ही पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होगी। यह एक मानसिक विचार क्रम है जिसका आधार मैं अवश्य ही जानना चाहूंगा। यह सबको स्वीकृत है कि प्रत्यक्ष गुणों और गुह्य शक्तियों के बीच कोई भी स्फुट सम्बन्ध नहीं जान पड़ता और इसी कारण वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के बल पर मानव मस्तिष्क उसके अन्तर्हित शक्तियों के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं कर सकता। जहां तक पूर्वानुभूति का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि निर्धारित वस्तुओं के सम्बन्ध में उनको साक्षात्

तथा निश्चित स्वरूप ही बताया जा सकता है और वह भी उसी काल के लिए जिनमें कि वह प्रत्यक्ष गोचर हो चुकी हैं। परन्तु यह पूर्वानुभूति भाविष्यकाल के लिए किसी प्रकार प्रयुक्त नहीं की जा सकती और प्रत्यक्ष ऐसी वस्तु जगत् के सम्बन्ध में इसका प्रयोग कदापि नहीं किया जा सकता—यही मुख्य प्रश्न है जिस पर मैं आग्रह करना चाहता हूँ। पूर्वाभुक्त रोटी ने अवश्य मेरा पोषण किया अर्थात् उस वस्तु विशेष में वे कुछ प्रत्यक्ष धर्म थे जिनमें अदृष्ट शक्ति पायी गयी परन्तु क्या उस अनुभूति के बल यह कहा जा सकता है कि दूसरी रोटी किसी अन्य अवसर पर मुझे उसी तरह पुष्टि प्रदान करेगी और यह भी कि वैसे ही प्रत्यक्ष धर्मों से युक्त पदार्थ सदा ही गृह्य शक्ति से सम्पन्न हो सकते हैं? यह निगमन किसी तरह भी अनावश्यक प्रतीत नहीं होता। कम से कम यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ऐसी स्थिति में हमारे मन ने कोई निगमन अवश्य किया, कोई कदम उठाया, एक विचार क्रम उपस्थित किया, कोई अनुमान किया जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। ये दो प्रतिज्ञाएं एक दूसरी से बिल्कुल विभिन्न हैं—१ मैंने इस वस्तु विशेष का सदा ही एक निश्चित परिणाम पाया और २ यह कहना कि अन्य वस्तुएं जिनका बाह्य स्वरूप तत्सदृश है अवश्य ही सुसदृश्य परिणाम को जन्म देंगी। यदि आप चाहें तो मैं यह स्वीकार कर लेता हूँ कि इनमें से एक प्रतिज्ञा दूसरे से अनुमति की जा सकती है, परन्तु यदि आपका यह आग्रह हो कि यह अनुमान किसी तर्क की श्रृंखला से निगत है तो मैं यह चाहूंगा कि आप उसे उपस्थित करें। इन प्रतिज्ञाओं के बीच सम्बन्ध आत्मसिद्ध नहीं हैं। किसी माध्यम की यहां अपेक्षा है जिसके द्वारा मानव मस्तिष्क इस प्रकार का अनुमान कर सके यदि वास्तव में यह अनुमान तर्क या युक्ति के आधार पर किया गया हो। मैं स्पष्ट स्वीकार करता हूँ कि मेरे लिए तो यह बुद्धिमय नहीं कि कोई भी वह माध्यम कैसे हो सकता है और यह भार उन्होंने पर है जो इसकी सत्ता मानते हैं और यह कहते हैं कि वही माध्यम वस्तु सम्बन्धी निर्णयों का मूल है।

३०. यह निषेधात्मक तर्क कालान्तर में अवश्य ही मान्य हो सकेगा।

यदि सूक्ष्म दृष्टि के योग्य दार्शनिक इस ओर अपनी कोई भी गवेषणाएं प्रस्तुत करें तो यह भी है कि दार्शनिक प्रत्यक्ष और उससे अनुभूति रहस्य के बारे में किसी प्रकार के संयोजक नियम तथा अन्तर्वृत्ति माध्यम को न पा सकेगा। परन्तु चूंकि यह प्रश्न अभी नया ही है इसलिए पाठक को अपनी बुद्धि के आधार पर कम से कम यह तो स्वीकृत नहीं करना चाहिए कि किसी तर्क की सत्ता ही नहीं है यदि वह अभी तक उसकी गवेषणा का विषय नहीं बन सका है। अतएव यह आवश्यक है कि हम कठिनतर कार्य में जुट जाय और मानव द्वारा अर्जित समस्त ज्ञान विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं का परिगणन कर यह सिद्ध कर दें कि उनमें से कोई भी ऐसे तर्क को स्थान देने में समर्थ नहीं है। सकल तर्क दो भेदों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) निर्देशक-तर्क—जिनका सम्बन्ध विचारों के पारस्परिक सम्बन्ध से है और (२) सूक्ष्म नैतिक तर्क—जो वस्तुस्थिति से सम्बन्ध रखता है। यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय में कोई भी निर्देशक तर्क नहीं रखा जा सकता क्योंकि इस प्रतिज्ञा में कोई भी विरोध नहीं है कि वस्तुगत निसर्ग में परिवर्तन हो सकता है—एक वस्तु जो हमारी प्रत्यक्षानुभूति वस्तु के सुसदृश है वह कभी बदली हुई दीख पड़ सकती है। और उसमें परिणामों की ही भिन्नता पायी जा सकती है। क्या मैं स्पष्ट एवं निश्चित रूप से यह धारणा नहीं रख सकता कि वह द्रव्य जो बादलों से टपकता है और जो हर बरफ के समान है स्वाद में नमकीन और स्पर्श में गर्म हो सकता है? क्या इससे भी अधिक स्फुट प्रतिज्ञा कहीं हो सकती है कि वृक्षादि दिसम्बर जनवरी में बढ़ेंगे और मई जून में सूख जायेंगे। अतः यह सत्य है कि जो धारणा स्फुट है और स्पष्टतया गोचर है उसमें कहीं विरोध के लिए स्थान नहीं है और न वह कभी भी निर्देशक तर्क द्वारा अथवा प्रारम्भिक सूक्ष्म युक्ति द्वारा मिथ्या प्रमाणित किया गया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हम पूर्वानुभूति पर विश्वास रखकर तक में उतरें और पूर्वानुभूति को अपने भविष्यत्कालीन अनुमान का माप-दण्ड समझें तो हमारे तर्क केवल सम्भाव्य ही हो सकते हैं और उपरि-

निर्दिष्ट विभाजन के अनुसार वे वस्तु एवं उनकी सत्ता तक ही सीमित रहेंगे। तथापि यदि हमारा विवरण ठीक और सन्तोषजनक है तो इस प्रकार के कोई तर्क ही नहीं सकते। हम यह ऊपर कह चुके हैं कि वस्तु के अस्तित्व सम्बन्धी समस्त तर्क कार्य कारण भाव पर आधारित हैं और इस सम्बन्ध का ज्ञान केवल पूर्वानुभवजन्य होता है, और हमारे सारे प्रायोगिक निगमन इसी धारणा पर अवलम्बित हैं कि भावी सदा भूत के अनुरूप ही होगा। अब इस अन्तिम मान्यता को सम्भाव्य तर्कों अथवा सत्ता विषयक तर्कों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करना मण्डलाकार परिभ्रमण मात्र होगा। अथवा यह तो साध्य को ही सिद्ध मान लेना है।

३१. वास्तव में तो अनुभवमूलक सकल तर्क प्राकृतिक वस्तुगत सादृश्य पर ही अवलम्बित हैं जिसके आधार पर हम एक वस्तु के धर्मों का परिचय पाकर तत्सदृश अन्य वस्तु में भी वैसे ही धर्मों के अस्तित्व की आशा रखने लगते हैं। और यद्यपि किसी जड़मति अथवा उन्मत्त व्यक्ति के अतिरिक्त कोई भी पुरुष प्रत्यानुभव की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं करता तथापि दार्शनिक को अवश्य ही इस सम्बन्ध में कौतूहल हो सकता है कि मानव जीवन का सबसे बड़ा कौन-सा मार्ग निर्देशक है जिसके बल पर वह वस्तु में वर्तमान पारस्परिक सादृश्य को देखकर अप्रत्यक्ष ज्ञान का लाभ उठाता है और मानव प्रकृति का परीक्षण भी अवश्य ही करना चाहिए।

सदृश कारणों से हम समान कार्यों की उत्पत्ति की आशा रखते हैं—यही हमारे सारे अनुभव जन्य प्रत्यक्ष का सारांश है। और यदि यह युक्ति तर्कयुक्त है तो यह पहिले अनुभव पर ही उतना ही प्रामाणिक है जितना कि वह सम्पूर्ण अनुभव के उपरान्त होगा। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं पायी जाती। अण्डे की तरह अन्य कोई पदार्थ आपस में एकसा नहीं होता, तथापि उनकी आकृति के साम्य के आधार पर यह निश्चय करना कि सबका स्वाद और रस एकसा होगा ऐसा कोई नहीं कह सकता। हमें किसी भी तथ्य के सम्बन्ध में दृढ़ निश्चय एवं विश्वास केवल बारम्बार और सदृश प्रयोगों के बाद ही हो पाता है। (तो भला वह कौन सा तर्क है जो एक दृष्टान्त पर निर्भर होकर ऐसे तथ्य का अनुभव कर लेता है

जो समकोटि के शत दृष्टान्तों का विश्लेषण कर के भी समझने में कठिनाई हो जाती है ?) इस प्रश्न को उठाने में मेरा उद्देश्य जानकारी प्राप्त करने का भी उतना ही है जितना कि समस्याओं को उपस्थित करने का । मैं न तो किसी ऐसी युक्ति ही को पाता हूँ और न उसकी कल्पना ही कर पाता हूँ । तथापि मैं सदा अपनी धारणाओं में संशोधन करने के लिए तैयार हूँ यदि कोई भी वेत्ता मुझे इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञान देने को उद्यत हो ।

३२. यदि यह कहा जाय कि अनेक समरूप प्रयोगों के आधार पर हम प्रत्यक्ष धर्मों और प्रत्यक्ष अन्तर्हित शक्तियों के बीच सम्बन्ध का अनुमान कर लेते हैं तो मैं यही कहूँगा कि यह भी अन्य शब्दों में उन्हीं कठिनाइयों को उपस्थित करना है जिसे मैं पहिले भी प्रस्तुत कर चुका हूँ । कारण, वही प्रश्न फिर भी उठता है कि किस तर्क पद्धति पर यह अनुमान आधारित हैं ? वह माध्यम कहां है ? वे मध्यवर्ती विचार कौन-से हैं जो एक दूसरे से इतनी विलग प्रतिज्ञाओं को जोड़ देते हैं । यह तो मानी हुई बात है कि रोटी के रंग, सामग्री तथा अन्य प्रत्यक्ष गुणों का रोटी में अन्तर्हित पोषण एवं आधार शक्ति से निजी तौर पर कोई सम्बन्ध दीख नहीं पड़ता । यदि ऐसा न हो तो हम प्रत्यक्ष धर्मों के प्रथमोवलोकन पर ही बिना अनुभव की सहायता के ही, वस्तुगत अन्तर्हित शक्तियों का अनुमान कर सकते होते, यद्यपि यह समस्त दार्शनिकों की भावना तथा हमारे स्फुट वास्तविकता के प्रतिकूल ही होता । इस विषय में तो हमें अपना नैसर्गिक अज्ञान मान लेना चाहिए कि हम वस्तु की आन्तरिक शक्ति तथा प्रभाव को नहीं पहचानते । तो फिर अनुभव से इसका प्रतिकार कैसे होता है ? अनुभव तो केवल इतना ही काम कर सकता है कि वह एक जैसे अनेक परिणामों को और सामने लाकर रख देता है और यह बता देता है कि ये वस्तुविशेष निर्दिष्ट काल पर इन शक्ति विशेष से सम्पन्न थीं और जब बाद को वैसे ही धर्मों से युक्त नूतन वस्तु की उत्पत्ति होती है तो हम उससे भी वैसे ही परिणामों की आशा करने लगते हैं और वैसे ही शक्ति की वहां भी सम्भावना करने लगते हैं । रोटी जैसी आकृति एवं सामग्री के

पदार्थ से रोटी जैसी ही पुष्टि और तुष्टि की सम्भावना ही की जा सकती है। निश्चय ही यह तर्क मानसिक पदक्रम है, एक परम्परा है जिसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैंने सब पिछले दृष्टान्तों में इन प्रत्यक्षित गुणों के अन्तर्हित इस तरह की शक्ति पायी और जब वह कहता है कि तत्सदृश प्रत्यक्षित गुण सदा वैसे ही अन्तर्हित शक्ति से सम्पन्न होंगे तो वह किसी भाँति पुनश्चित नहीं करता, तथापि ये दो प्रतिज्ञाएं सर्वथा एक ही नहीं हैं। आप का कथन है कि एक प्रतिज्ञा दूसरी प्रतिज्ञा से अनुमित है। आपको यह तो स्वीकार करना ही होगा कि यह अनुमित आत्मसिद्ध नहीं है और न निर्देशक ही है, तो फिर कैसा है ? इसे अनुभूति जन्य कहना तो साध्य ही को सिद्ध मान लेना है, कारण कि यही तो समस्त अनुमित का आधार है कि भावी सदा भूत का अनुवर्ती होगा और सुसदृश परिणाम सदा सुसदृश धर्मों का कार्य है फिर यह स्वयं अनुभूति जन्य कैसे हो सकता है। यदि हमें तनिक भी यह आशंका हो जाये कि प्रकृति भी कहीं परिवर्तनशील है तो भूत भावी का नियामक कदापि न हो सकेगा और अनुभव निष्फल होकर हमें किसी भी अनुमित अथवा निगमन पर नहीं पहुँचा सकेगा। अतः अनुभूतिमूलक तर्क के लिए यह असम्भव है कि वह भूत और भावी में सारूप्य सिद्ध कर सके, कारण यह है कि इस विषय में सारी युक्तियाँ सादृश्य पर ही निर्भर हैं। संसार में प्रकृति के वस्तुक्रम को नियमित अभी तक क्यों न मान लें फिर भी बिना किसी नवीन अनुमान या तर्क के भविष्य में भी सदा ऐसा ही होता रहेगा, यह प्रमाणित नहीं होता। अतः पूर्वानुभव के आधार पर वस्तु निसर्ग के ज्ञान का दम्भ व्यर्थ है। कारण, वस्तु का बाह्यस्वरूप वही रहते हुए भी उसके अन्तर्हित निसर्ग और साथ-साथ उसके भाव परिणाम एवं प्रभाव में अन्तर पड़ सकता है। किन्हीं-किन्हीं वस्तुओं में और कभी-कभी ऐसा हो भी जाता है तो फिर सकल वस्तु जगत् में क्यों नहीं हो सकता ? इस आशंका के विरुद्ध आपके पास कौन-सा तर्क अथवा युक्तिबल है जो आप को इस संकट से बचाता है ? आपका कथन है कि हमारा रोज का व्यवहार ही हमारे इन सन्देहों के विरुद्ध है परन्तु यह मेरे प्रश्न का तात्पर्य

एक कर्ता और भोक्ता के नाते तो मैं इस विषय में सन्तुष्ट हूँ परन्तु एक विचारक के नाते यदि सन्देहवश नहीं तो कुतूहलवश मैं उपर्युक्त अनुमान का मूल आधार जानना चाहता हूँ। अधिक से अधिक और परामर्श ने अभी तक तो मेरी समस्या का कोई हल नहीं दिखाया और न इतने ही सहत्व के विचार बिन्दु पर किसी तरह का सन्तोषजनक प्रकाश ही डाला। मैं इससे अधिक अच्छी बात और क्या कह सकता हूँ कि मैं अपनी समस्या को जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करूँ यद्यपि सम्भवतः वहाँ भी मुझे हल पाने की आशा बहुत ही स्वल्प है। ऐसा करने से यद्यपि हम अपने ज्ञान में वृद्धि न भी कर पायें फिर भी हमें कम से अपने अज्ञान का तो भान हो ही जायगा।

३३. यदि अपने अन्वेषण से कोई तर्क ओझल रह जाय तो उसकी तात्त्विक सत्ता को ही न माना जाय। यह तो समझता हूँ कि मानव का अक्षम्य दम्भ है। साथ ही साथ मुझे यह भी मान लेना चाहिए कि किसी भी विषय पर यदि अनेक युगों से भी विद्वानों का अन्वेषण निष्फल ही रहा हो तो भी उस विषय को मानव बुद्धि से सर्वथा अगम्य मान बैठना तो अविवेक ही होगा। हम अपने ज्ञान के समस्त स्रोत भले ही टटोल लें और उन्हें प्रस्तुत विषय के लिए अनुपयोगी भी मान लें तथापि यह आशंका तो बनी ही रहती है कि हमारी अपनी परिगणना ही अपूर्ण रही होगी और हमारा अन्वेषण ठीक-ठीक न हुआ होगा। परन्तु प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यहाँ यह दोष नहीं पाये जाते।

यह तो सत्य ही है कि एक अत्यन्त निरक्षर एव जड़मति गँवार भी—अबोध शिशु भी अथवा जंगली पशु भी—अनुभव से सुधर जाते हैं और प्राकृतिक वस्तुओं के धर्मों को उनके परिणामों का निरीक्षण करके पहिचान लेते हैं। बच्चे को यदि एक बार दीप की ज्योति से स्पर्श होने पर तज्जन्य वेदना का अनुभव हो जाता है तो वह सदा उससे दूर रहने की चेष्टा करता है और सदा तत्सदृश वस्तु को देख उससे भी वैसे ही परिणाम की आशंका करने लगता है। यदि यहाँ भी आप का यही कथन है कि शिशु को यह बोध भी किसी बौद्धिक व्यापार या तर्क पद्धति से

उपलब्ध होता है तो मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप उस तर्क पद्धति अथवा बौद्धिक व्यापार को मेरे सम्मुख उपस्थित करें—आप मेरी इस उचित मांग को मना नहीं कर सकते। आप यह भी नहीं कह सकते कि वह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म है और बोधगम्य नहीं है क्योंकि आप स्वयं ही उसे शिशु की बुद्धि के द्वारा गम्य मानते हैं। यदि आप किसी एक क्षण भी उस तर्क को प्रस्तुत करने में संकोच करते हैं अथवा गम्भीर विमर्श के पश्चात् आप किसी पेचीदे या भारी तर्क को रखते हैं तो एक प्रकार से आप उस प्रश्न से भागते मालूम पड़ते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि भावी को भूत के अनुरूप मानने और सुसदृश कारणों से तदनुरूप कार्यों की उत्पत्ति की आशा रखने में कोई भी तार्किक पद्धति नहीं है। मैं इस परिच्छेद में इसी प्रतिज्ञा को दृढ़ता पूर्वक रखना चाहता हूं। यदि मैं सही हूं तो मैं किसी बड़े भारी आविष्कार का गर्व नहीं करता और यदि मैं गलत हूं तो अवश्य ही मुझे अपने आप को एक बड़ा हीन विचारक मान लेना चाहिये क्योंकि अब इस आयु भर मैं उस तर्क को नहीं जान रहा हूं जिससे मैं बीस वर्षों पूर्व अपने बचपन में भली भांति परिचित था।

पांचवां परिच्छेद

उपर्युक्त शंकाओं के संदिग्ध निराकरण

(१)

३४. धर्म की तरह दर्शन के प्रति अनुराग भी एक प्रकार की असुविधा को ही उत्पन्न करता है। यद्यपि वह हमारे आचार-विचार को सुधारने तथा दोषों को दूर करने का उद्देश्य रखता है, तथापि वह निविवेक प्रयोग करने पर बड़ी दृढ़ता के साथ हमारी मनोवृत्ति तथा मन को उधर ही झुका देता है जिधर उसका झुकाव पहले से ही अपनी प्रकृति के अनुसार रहता हो। यह निश्चित है कि जैसे-जैसे हम एक सूक्ष्मदर्शी ऋषि की तरह उदात्त दृढ़ भावना को ही अपनाना चाहते हैं और अपने सम्पूर्ण आनन्द को स्वकीय मनोव्यवहार में ही सीमाबद्ध करने की चेष्टा करते हैं, वैसे-वैसे हमारा दर्शन भी तो अपिक्वेटस, अथवा अन्य स्टोइक-दार्शनिकों की तरह बनने लगता है। और तब वह स्वार्थपरता का ही एक संस्कृत स्वरूप ले लेता है, चाहे उसमें सद्गुणों एवं सामाजिक सुखों का त्याग ही क्यों न हो। जब हम मानव-जीवन की निस्तारता पर ध्यानपूर्वक विचार करने लगते हैं और धन, सम्पत्ति, सम्मान आदि की क्षणिकता एवं तुच्छता की पुकार लगाते हैं, तो हम सम्भवतः अपने स्वाभाविक आलस्य की ही मिथ्या प्रशंसा करते हैं। ऐसी मनोवृत्ति संसार की व्यस्तता एवं व्यावसायिक कठोरता के प्रति अहचि उत्पन्न कर, अपनी अनियमित सुखपरता को तार्किक वेष पहिनाने की चेष्टा करती है। हां, दर्शन का एक मार्ग ऐसा अवश्य है जो ऐसी असुविधा को उत्पन्न नहीं करता, इसका कारण यह है कि वह मानव-मस्तिष्क की किसी भी विकृत लालसा को जागृत नहीं करता और न किसी नैसर्गिक लगन या झुकाव का ही साथ देता है। और यह जिज्ञासात्मक अथवा संदिग्धात्मक दर्शन कहला सकता है। जिज्ञासु-

वर्ग सदा संदेह एवं अनिश्चित निर्णयों की ही चर्चा करता रहता है और वह निर्णय में जल्दबाजी से डरता है, अपनी बौद्धिक गवेषणाओं को संकीर्ण सीमा में रखता है और उन सकल काल्पनिक ऊहापोहों से दूर रहता है जो हमारे सर्वसाधारण जीवन तथा व्यवहार से परे हैं। इस प्रकार का दर्शन तो मानव-मस्तिष्क के आलस्य, तज्जन्य वर्ग और ऊंची-ऊंची बातों तथा आशुग्राहिता का नाशक है। दर्शन का यह मार्ग तो सत्यान्वेषण की लगन को छोड़कर अन्य सब लालसाओं को समाप्त कर देता है। और यह लगन तो न कभी मात्राधिक्य को पहुंची है, और न कभी पहुंचेगी। इतना होते हुए भी ऐसे निर्दोष एवं निरुपाय दर्शन भी निराधार उपहास एवं वक्राक्ति के विषय होते रहते हैं। सम्भवतः वे ही कारण जो इसे इतना निर्दोष बनाते हैं, इसे जनसाधारण की अरुचि एवं अप्रियता का भी विषय बनाते हैं। किसी अप्राकृतिक भावना को व्यर्थ का प्रोत्साहन न देने के कारण, इस दर्शन के आश्रयदाताओं की भी कमी है और अनेक दोषों एवं व्यसनों का विरोध करने से उस पर शत्रुओं की बाढ़ भी आ जाती है, जो उसे अमर्यादित, दूषित एवं अधार्मिक कह कर कलंकित करते हैं।

यद्यपि दर्शन का यह रूप सामान्य जीवन में हमारे विमर्श को सीमित करने की चेष्टा करता है तथापि हमें यह भय नहीं होना चाहिए कि यह सामान्य जीवन के विषय में हमारी तार्किक युक्तियों को किसी प्रकार दबायेगा या हमारी शंकाओं को इतनी बढ़ा देगा कि हमारे समस्त कर्म तथा जीवन के सकल व्यापार को ही नष्ट कर देगा। प्रकृति सदा ही अपने अधिकारों को सुरक्षित रखती है और अन्त में सूक्ष्म से सूक्ष्म मानसिक तर्क पर भी अपनी सत्ता स्थिर कर के ही रहती है। उदाहरणार्थ यदि हम पूर्व परिच्छेद में कही हुई उस बात को मान लें कि अनुभव-मूलक सकल तर्कपद्धति में मन एक ऐसा व्यापार करता है जो किसी बौद्धिक व्यापार अथवा युक्तिबल पर आधारित नहीं है, तथापि यह भय नहीं होना चाहिए कि ऐसे किसी नवीन विचार के प्रादुर्भाव से यह तर्क पद्धति ही किसी तरह से उच्छिन्न की जा सके। यदि मानव मन इस तर्क के

स्थान पर किसी अन्य समतुल्य सिद्धान्त को अपनायेगा जो अपने प्रभाव को तब तक बनाये रखेगा जब तक कि मानव प्रकृति ही बदल नहीं जाती और यह जानना कि ऐसे सिद्धान्त का क्या स्वरूप है, अवश्य ही विमर्श के श्रम के योग्य है ।

३५. मान लो कि सबल युक्ति एवं विचारशक्ति से सम्पन्न एक व्यक्ति सहसा इस संसार में लाकर रख दिया जाय तो यहां वह तुरन्त ही देख लेगा कि जगत् में वस्तु की गति की एक परम्परा है, जहां एक घटना दूसरी की अनुगामिनो है, परन्तु इसके आगे वह और अधिक कुछ न जान पायेगा । किसी भी युक्ति से वह एकदम कार्य-कारण संबंध को नहीं पहचान सकेगा । कारण, वस्तुगत अन्तर्हित शक्तियां इन्द्रियगोचर नहीं होतीं । और न यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि यदि एक घटना दूसरी घटना से पूर्ववर्ती है तो वह इसीलिये कारण रूप और पीछे होने वाली घटना तज्जन्य कार्यरूप है । उनका संयोग आकस्मिक एवं काकता-लीय भी हो सकता है । एक सत्ता से दूसरी सत्ता के अनुमान करने में कोई तार्किक आधार नहीं है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ऐसा नवागन्तुक व्यक्ति कुछ अधिक अनुभव के बिना केवल अपने तर्क द्वारा अथवा बुद्धि के बल पर वस्तु-जगत् के सम्बन्ध में अपने तात्कालिक प्रत्यक्ष एवं स्मृति से परे किसी भी विशिष्ट ज्ञान की सत्यता में विश्वास नहीं कर सकता और आगे यह भी मान लो कि उसे कुछ अधिक अनुभव प्राप्त भी हो गया, और यदि वह परिचित वस्तु तथा घटनाओं के सर्वकालीन सहभाव को बारम्बार देखने तक जोकित भी रहा हो तो भी उसका यह अनुभव आखिर किस काम का है ? वह अब भी एक वस्तु को सत्ता देखकर ही सहसा अन्य की सत्ता का अनुमान ही तो करता है और फिर भी अपने समग्र अनुभव के बाद भी उस अन्तर्हित शक्ति का ज्ञान या कल्पना भी नहीं रखता जिससे कि एक वस्तु दूसरी को जन्म देती है, और न ही वह इस प्रकार के अनुमान करने में किसी तार्किक पद्धति से ही काम लेता है । तथापि वह ऐसा करता ही है और यद्यपि उसे विश्वास भी हो जाय कि उस व्यापार में उसकी बुद्धि का कोई भी प्रभाव नहीं है

तथापि वह उसी तरह सोचता रहेगा । प्रतीत होता है कि उस मानसिक व्यापार में बुद्धि के अतिरिक्त और कोई सिद्धान्त या तत्व छिपा हुआ है ।

३६. वह मूलाधार सिद्धान्त है रूढ़ि अथवा अभ्यास । जहां कहीं किसी भी मानसिक व्यापार की बारम्बार पुनरावृत्ति की भावना सजग होती है और उसके पीछे कोई तार्किक पद्धति या बौद्धिक व्यापार की प्रेरणा नहीं पायी जाती तो हम अवश्य ही कह सकते हैं कि वह रूढ़ि अथवा अभ्यासवश जागृत होती है । इस शब्द के प्रयोग से हमारा यह आशय नहीं कि हमने उस भावना का कोई मूलाधार ढूँढ़ निकाला है । हम तो केवल मानव-स्वभाव का एक निदर्शन मात्र दे रहे हैं जो जन सामान्य में प्रचलित है और सदा परिणाम से पहिचाना जा सकता है । सम्भवतः हम अपने विमर्श को इतने आगे और नहीं बढ़ा सकते और न इस कारण का ही कारण दे सकते हैं, इसीलिए केवल इतना ही कह कर सन्तुष्ट हो लेते हैं कि यह वही सिद्धान्त है जो कि अनुभवजन्य सकल निगमनों का मूलाधार है । यह पर्याप्त सन्तोष है कि हम कम-से-कम अपने विमर्श में इतनी दूर तो पहुंच सके । और हमें अपनी बुद्धि की संकुचित शक्तियों के प्रति यह रोष नहीं है कि वे हमें इससे परे और आगे नहीं ले जा सकीं । और यह तो ठीक ही है कि जब हम दो वस्तुओं के साहचर्य के पश्चात् जैसे बाहिनी और ज्वाला या परिमाण और संघात, रूढ़ि या अभ्यासवश एक के अस्तित्व में दूसरे के अस्तित्व की संभावना करते हैं तो चाहे हमारा ऐसा करना यथार्थ न हो पर बुद्धिगम्य तो अवश्य है । और केवल यही पूर्व-निगमन इस समस्या का भी उत्तर देता है कि हम क्यों सहस्र उदाहरणों को देखकर यह अनुमान कर लेते हैं जो केवल एक उदाहरण पर नहीं करते । चाहे वह दोनों एक समान ही क्यों न हों । बुद्धि इस तरह के भेद करने में असमर्थ है । बुद्धि केवल एक वर्ग को देखकर जिन निगमनों पर पहुंचती है उन्हीं पर वह विश्व के समस्त वर्गों का निरीक्षण करने पर पहुंचेगी । परन्तु कोई भी व्यक्ति किसी एक वस्तु की प्रेरणा दूसरी वस्तु को धूमते देखकर यह निश्चय नहीं कर सकेगा कि प्रत्येक वस्तु उसी

प्रकार की प्रेरणा से घूमने लगेंगी। अतएव यह कहा जा सकता है कि अनुभवजन्य समस्त तर्क अभ्यास का परिणाम है न कि तर्क का।^१

१. नैतिक, राजनैतिक अथवा भौतिक विषयों के लेखकों के लिए भी इसके अतिरिक्त बढ़कर अधिक उपयोगी और कुछ नहीं है कि तर्क और अनुभव में विवेक किया जाय और यह मान लिया जाय कि तर्कमूल विमर्श एक अनुभवमूल विमर्श से बिल्कुल भिन्न है। तर्कमूल विमर्श केवल हमारी बौद्धिक शक्तियों के फलस्वरूप है जो वस्तुनिसर्ग का निश्चित प्रागनुभव करता है और तज्जन्य परिणामों का अध्ययन करता है। अनुभवजन्य ज्ञान इन्द्रियों द्वारा तथा अन्वेक्षण द्वारा प्राप्त होता है और उससे हमें यह ज्ञात होता है कि किस क्रिया का प्रतिफल क्या होगा। उदाहरणार्थ—नागरिक शासन तथा न्याय के नियमों को हम या तो तर्क के आधार पर सिद्ध कर सकते हैं जो मानववृत्ति की निर्बलता तथा दोषपूर्णता के कारण हमें यह सिखाता है कि किसी भी व्यक्ति की अमर्यादित सत्ता खतरे से खाली नहीं हैं अथवा यही काम हम अनुभव एवं इतिहास के आधार पर कर सकते हैं जो हमें उन अगणित अन्यायों से परिचित कराता है, जिन्हें हर देश और युग से इसलिए किया गया है कि हमने मनुष्यों के स्वार्थ के ऊपर अनुचित विश्वास किया।

इसी तरह हम देखते हैं कि जीवन के कठिन से कठिन व्यवहार सम्बन्धी विचारों में तर्क एवं अनुभव में विवेक किया जाता है, क्योंकि हम देखते हैं कि जहाँ हम एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ, सेनाध्यक्ष, वैद्य अथवा व्यवसायी का विश्वास और अनुकरण करते हैं। एक नौसिखिया को हम न तो पूछ करते हैं और न उसका आदर ही करते हैं, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो। यह चाहे मान भी लिया जाय कि तर्क विशेष स्थितियों में विशेष प्रकार के परिणाम सम्बन्धी शुद्ध अनुमान (कल्पना) शायद करा भी दे तथापि यह निर्णय अपूर्ण ही माना जायगा यदि उसके पीछे अनुभव का बल न होगा। कारण अनुभव ही एकमात्र ऐसा साधन है जो हमारे उन लौकिक न्यायों को जो गंभीर

३७. यहां यह कहना तो उचित ही होगा कि हमारे अनुभव-जन्य निगमन यद्यपि हमें अपनी स्मृति तथा प्रत्यक्ष के परे ले जाकर सुदूर एवं पुरातन की वस्तुस्थिति का बोध करा देते हैं तथापि कोई न कोई वस्तु अवश्य ही हमारी स्मृति तथा ज्ञानेन्द्रियों के सम्मुख होनी चाहिए जिनके आधार पर ही हम उन निर्णयों पर पहुंचते हैं। किसी निर्जन प्रदेश पर

मनन तथा अभ्यास से अवगत होते हैं, स्थिरता तथा निश्चितता प्रदान कर सकता है।

यद्यपि इस प्रकार के तर्क और अनुभव में विवेक सर्वमान्य है तथापि मुझे इस विवेक को मूलतः भ्रान्त अथवा तुच्छ कहने में संकोच न होगा।

यदि हम विविध विज्ञानों के उन अनुमानों का निरीक्षण करें जो रूप प्रतीत होते हैं तो अन्ततः वे किसी न किसी ऐसे सामान्य सिद्धान्त से निकले दिखाई पड़ते हैं जिसके लिए हम अन्वेक्षण और अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं दे सकते। इन युक्तियों में तथा पूर्वानुभव पर अवलम्बित माने जाने वाले न्यायों के बीच यदि कोई अन्तर है तो वह यह है कि प्रथम वर्ग की युक्तियों के बिना किसी विचारधारा अथवा मनन को स्थिर नहीं किया जा सकता, प्रत्युत दूसरे वर्ग के तर्क में हम अनुभूत वस्तु से तुरन्त ही अनुमेय पर पहुंच जाते हैं। टायबेरिस अथवा नीरो का इतिहास हमें यहीं सिखाता है कि अत्याचारों से डरना चाहिए। यदि हमारे प्रशासक भी आज न्याय एवं लोकसभा के डर से उन्मुक्त हो जायं, लेकिन व्यक्तिगत जीवन में भी नृशंसता या वंचकता के एक दो दृष्टान्त ही वैसी भी भीति उत्पादन करने को पर्याप्त हैं। साथ ही साथ ये हमें मानव स्वभाव में उस भ्रष्टता का दिग्दर्शन कराते हैं जिससे हम समझ जाते हैं कि मानव स्वभाव में अन्धविश्वास करने में कितना धोखा हो सकता है। दोनों हालतों में अनुभव ही हमारे सकल अनुमान एवं निगमनों का चरम आधार है।

ऐसा कोई भी अबोध एवं अनुभवहीन व्यक्ति न होगा जिसने

विशाल महलों के भग्नावशेष को देखकर कोई भी व्यक्ति इसी निर्णय पर पहुँचेगा कि पुरातन समय में वहाँ सभ्य नागरिक रहा करते थे, परन्तु यदि उसे नागरिक वस्तियों का ही पूर्व परिचय बिलकुल न हो तो वह कदापि इस निर्णय पर न पहुँच पायेगा। हम पुरातन युगों की स्थिति का ज्ञान इतिहास द्वारा पाते हैं, लेकिन ऐसे ग्रन्थों के अवलोकन में हमें उन

अन्वेक्षण द्वारा मानव-व्यवहार एवं जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में कुछ न कुछ सामान्य एवं प्रामाणिक सिद्धान्त स्थिर न कर लिये हों, तथापि यह मानना होगा कि जब वह इन सिद्धान्तों पर चलना चाहेगा तो वह गलतियाँ कर सकता है जब तब कि समय तथा विस्तृत अनुभव उन सिद्धान्तों को अधिक व्यापक बनाकर उनका समुचित उपयोग एवं प्रयोग उसे सिखा न देगा। हर अवस्था या घटना के सम्बन्ध में प्रायः अनेक विशिष्ट एवं सूक्ष्म वस्तुएं (स्थितियाँ) हो जाती हैं जिन्हें बड़े से बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति भी सहसा देखना भूल जाता है और उनके अन्वेक्षण पर ही उसके निर्णयों की प्रामाणिकता तथा उसके व्यवहार की यथोचितता निर्भर रहती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नौसिंखिया को सामान्य नियम या न्याय उचित अवसर पर भासमान नहीं होते और न उनका शान्तिपूर्वक अथवा विवेकपूर्ण प्रयोग ही उसके द्वारा तुरन्त किया जाता है। सत्य तो यह है कि अनुभवहीन तार्किक तार्किक ही नहीं होता और जब हम किसी को ऐसा कहते हैं तो वह तुलनात्मक दृष्टिकोण से ही, क्योंकि हम उसे स्वल्प मात्र में अथवा अपूर्ण अनुभव का व्यक्ति ही समझते हैं। तो फिर अभ्यास मानव जीवन का एक विशिष्ट पथ-प्रदर्शक है। वही एक ऐसा आधार है जो हमारे अनुभवों को उपयोगी बनाता है और भूत से भावी का ज्ञानोपार्जन करने में सहायक होता है। अभ्यास के बिना हम वस्तु के व्यावहारिक स्वरूप से सवर्था अनभिज्ञ रहेंगे और प्रत्यक्ष अथवा स्मृति ज्ञान के अतिरिक्त हम कुछ भी न जान सकेंगे। हम साधन को साध्य से कभी सम्बन्धित हो न कर सकेंगे। इसका फल यह होगा कि सकल

बातों की प्रामाणिकता तब तक नहीं मिलती जब तक हमें दूरस्थ उन घटनाओं के प्रत्यक्ष दृष्टाओं से साक्षात्कार न हो जाय । संक्षेपतः यदि हम स्मृति अथवा प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान के बिना केवल तर्क से ही आगे बढ़े तो हमारे निर्णय मध्यवर्ती तार्किक श्रृंखलाओं के होते हुए भी उपरि-निष्ठित अथवा पूर्वाभास मात्र ही होंगे । और हमारी सारी अनुमान-परम्परा निराधार ही रहेगी और हम कभी भी वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान उस तर्क के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकेंगे । यदि मैं यह पूछूँ कि आप जिस घटना का वर्णन कर रहे हैं उस पर आप क्यों कर विश्वास करते हैं तो आपको मुझे कुछ वजह बतानी होगी और वह वजह उससे भिन्न होते हुए भी उससे किसी तरह सम्बन्धित होगी । परन्तु इस तरह आप अनवस्था तक अपने विमर्श को नहीं ले सकते और आप को कहीं न कहीं जाकर विराम अवश्य करना होगा और वह स्थान वही होगा जो आप की स्मृति या प्रत्यक्ष पर आधारित हैं अथवा आप को मान लेना होगा कि आपकी धारणा सर्वथा निर्मूल है ।

३८. तो फिर इस सारे विमर्श का निष्कर्ष क्या है ? निष्कर्ष तो सीधा-सा है पर वह दर्शन की सामान्य विचारधारा से काफी दूर है । वास्तविक सत्ता सम्बन्धी समस्त ज्ञान अथवा अनुमान स्मृतिगत अथवा प्रत्यक्ष दृष्ट विषय और किसी इतर विषय से संयोग के आधार पर ही उपलब्ध होता है । या दूसरे शब्दों में यों कहिए कि अनेक स्थल पर दो पदार्थों को जैसे ज्वाला और उष्णता या हिम और शैल-सदा एकाधिकरण देखने पर जब कहीं ज्वाला या हिम का प्रत्यक्ष हो तो अभ्यासवश मन वहां उष्णता या शैल के अस्तित्व को मानने लगता है और निकट जाने पर सचमुच वैसा ही पाता है । यह धारणा अन्तःकरण की किसी विशेष अवस्था में स्थिति का स्वाभाविक परिणाम है । यह अन्तरात्मा का इसी तरह का व्यापार है जैसे कि—किसी से लाभ मिलने पर उसके प्रति स्नेह

व्यापार की इतिश्री हो जायगी और दार्शनिक विमर्श भी समाप्त हो जायेंगे ।

का प्रादुर्भाव होना अथवा हानि पहुँचने पर उसके प्रति द्वेष का उत्पन्न होना। यह सब क्रियाएँ नैसर्गिक वृत्तियों के समान हैं जिन्हें कोई तर्क या विचार-पद्धति या बुद्धि-व्यापार न पैदा कर सकता है और न रोक ही सकता है।

यहां हमारे लिए सही सम्मति है कि यह दार्शनिक गवेषणाएं स्थगित कर दें। कई प्रश्नों पर तो हम एक कदम भी आगे नहीं उठा सकते और बहुत से प्रश्नों में तो हमें यहां अपना विमर्श समाप्त ही कर देना होता है, चाहे हमने कितने ही अथक परिश्रम एवं उत्सुकता से अपने अन्वेषण क्यों न किये हों तथापि हमारी यह उत्सुकता क्षम्य ही नहीं वरन् स्तुत्य भी होगी यदि वह हमें यह बता सकें कि हमारा 'विश्वास' और यह अविनाभाव सम्बन्ध अथवा तज्जन्य संयोग का ज्ञान हमें कहां से प्राप्त होता है। ऐसा करने पर हम शायद ऐसे किसी विवरण अथवा दर्शन के प्रेमियों को कुछ सन्तोषजनक सिद्ध हो सकें यद्यपि वह विवरण कितना ही प्रामाणिक और ठीक-ठीक होने पर सन्देह एवं अनिश्चितता से मुक्त तो कभी न होगा। इससे भिन्न अध्येताओं के लिए इस परिच्छेद का शेष अंश किसी मतलब का न होगा फिर भी निम्नलिखित समझ तो लेना ही चाहिए चाहे वे उसकी उपेक्षा ही क्यों न करें।

दूसरा भाग

३९ मानव-कल्पना से अधिक स्वतंत्र इस जगत् में अन्य कोई भी वस्तु नहीं है और यद्यपि वह बाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत विचारों के मूल कोष से आगे नहीं जा सकती, फिर भी इसमें इन विचारों का एकीकरण, सम्मिश्रण, विश्लेषण तथा विभाजन की काल्पनिक एवं स्वाप्निक परम्परा का तथा विविध वर्गों को उपस्थित करने की असीम शक्ति है। वह घटनाओं की परम्परा को कल्पित कर सकता है, जिसमें यथातथ्य का पूर्ण रूप दीख जाय, उन्हें देश और काल से संयुक्त किया जा सकता है, उनकी सत्ता भी कल्पित की जा सकती है और उनकी सहचर समस्त स्थितियों का चित्रण किया जा सकता है। जो उन्हें ऐतिहासिक

तथ्य का रूप दे दें जिससे उनका अस्तित्व अधिक दृढ़ता से स्वीकृत हो। तो फिर ऐसी कल्पना और विश्वास में कहां अन्तर है? यह अन्तर किसी ऐसी धारणा विशेष में नहीं है जिसका सम्बन्ध विश्वास से तो हो, पर कल्पना से न हो। चूंकि मानव अंतःकरण का सारे ही विचारों पर समान अधिकार है, वह अपने आप उस धारणा विशेष को कल्पना से जोड़ सकता है और तत्पश्चात् मनचाही वस्तु में विश्वास रखने लगता है, चाहे वह हमारे दैनिक अनुभव के कितने ही विपरीत क्यों न हो। हम चाहें तो अपनी कल्पना में आदमी के सिर को घोड़े के घड़ से जोड़ दे सकते हैं, परन्तु यह भी मानना कि ऐसा प्राणी कभी वास्तव में रहा है यह हमारी शक्ति के बाहर है।

इससे यह निश्चय होता है कि कल्पना एवं तथ्य में अन्तर किसी ऐसी भावना पर निर्भर है जो कि तथ्य के साथ लगा हुआ है पर कल्पना के साथ नहीं और न वह हमारी इच्छा पर ही अवलम्बित है और न हमारे चाहने से ही हो जाता है। उसका तो उद्बोधन अन्य भावनाओं की तरह प्रकृति के द्वारा ही किया जा सकता है, और उसकी जाग्रति तो किसी समय, विशेष कर मन की किसी विशिष्ट दशा में ही हो सकती है। जब कभी कोई विषय किसी भी इन्द्रिय अथवा स्मृति का गोचर होता है वह तुरन्त ही अभ्यासवश हमारी कल्पना शक्ति को उस सम्बद्ध विषय तक पहुंचा देता है और इस तरह के व्यवहार के साथ एक भावना रहती है जो हमारी काल्पनिक तथा शिथिल मनोवस्थाओं से विलकुल भिन्न होती है। विश्वास के स्वरूप का रहस्य इसी धारणा विशेष में अन्तर्हित है। कारण, ऐसा कोई वास्तविक विषय नहीं है कि जिसमें हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास हो कि हम उसके विपरीत का अस्तित्व न सोच सकें। यदि इन दोनों में परस्पर विभेदक कोई विशेष भावना न हो तो स्वीकृत धारणा तथा निरस्त धारणा में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। यदि मैं एक चिकने मंच पर विलियर्ड की एक गेंद को दूसरी गेंद की ओर जाने देता हूं तो मैं आसानी से यह धारणा बना सकता हूं कि दोनों के स्पर्श से यह गति रुक जायगी। इस धारणा में विरोध के लिये कोई स्थान नहीं है तथापि यह

उस धारणा से बिल्कुल विभिन्न-सी लगती है जिसमें कि हम यह सोचते हैं कि एक गेंद दूसरी गेंद को स्पर्श से गति देती है।

४०. यदि हम इस भावना विशेष की परिभाषा देने का यत्न करें तो यदि असम्भव न भी हो तो भी यह टेढ़ी खीर अवश्य होगी। यह उतना ही कठिन होगा जितना कि शील अथवा क्रोध की भावना की व्याख्या ऐसे आदमी से कर देना हो जिसने इन भावनाओं का कभी पूर्व में अनुभव ही न किया हो। इस भावना विशेष का सही नाम 'विश्वास' ही हो सकता है और ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो इस पद का तात्पर्य न समझता हो, कारण हर व्यक्ति प्रतिक्षण—इस पद से बोध्य मान भावना का अनुभव करता रहता है। यद्यपि यह पदव्याख्या का विषय नहीं है तथापि इसके वर्णन करने की चेष्टा अनुचित न होगी, कारण ऐसा करने में हमें शायद कुछ ऐसे सदृश दृष्टान्त मिल जायें जिससे कि उसका पूर्णरूप से तात्पर्य जाना जा सके। तो फिर मैं यही कहूंगा कि 'विश्वास' किसी भी विषय की कल्पनामात्र से पुरस्कृत धारणा की अपेक्षा, कहीं अधिक सुस्पष्ट, मजीब, तीव्र, दृढ़ एवं स्थायी कारण है। यह शब्द भेद, जो सम्भवतः अदार्शनिक सा प्रतीत होता है उस मानसिक व्यापार का बोध कराता है जो तथ्य को काल्पनिक की अपेक्षा अधिक सुचारू रूप से हमारे आगे उपस्थित करता है, हमारी उस विचार परम्परा में अधिक महत्व दिलवाता है तथा हमारी भावनाओं तथा कल्पनाओं पर अधिक गौरवशाली प्रभाव प्रदान करता है। यदि हम इस तत्त्व पर सहमत हैं तो गब्दावली पर विवाद सर्वथा अनावश्यक है। ऊहापोह का सर्वाविध विचारों पर अधिकार होता है और वह चाहे जिस तरह उन्हें संयुक्त अथवा सम्मिश्र बना सकता है, उन्हें परिवर्तित भी कर सकता है। वह देश और काल का हर तरह का संयोग देकर कल्पित पदार्थों की भी धारणाएँ बना सकता है, वह चाहे तो उन्हें हमारी आंखों के सामने उन पदार्थों को ऐसा वास्तविक वर्णयोग दे सकता है मानों वे वास्तव में कभी रहे हों। परन्तु चूँकि यह असम्भव है मन की यह ऊहात्मकशक्ति आप ही आप विश्वास-कोटि तक पहुँच जाय, यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वास धारणाओं का एक विशिष्ट क्रम या

निर्गम नहीं है, परन्तु धारणा का प्रकार विशेष तथा मानसिक भावना विशेष है। मैं यह स्वीकार करता है कि इस धारणा का प्रकार तथा भाव का विशदीकरण पूर्णरूप से असम्भव है। हम ऐसी ही वाक्यावली का प्रयोग कर सकते हैं जो उसके तात्पर्य के निकट तक पहुँच जाय। हम जैसा ऊपर कह आये हैं प्रस्तुत धारणा का उचित एवं वास्तविक नाम 'विश्वास' ही हो सकता है जिसे हर व्यक्ति अपने सामान्य जीवन में खूब समझता है। दर्शन की रूढ़ि से हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते कि 'विश्वास' एक ऐसी धारणा है जो मनोगम्य है और जो ऊहात्मक कल्पनाओं से, एवं विचारों को विविक्त करती है। वह अपने विषय को अधिक महत्व एवं प्रभाव सम्पन्न करती है, उन्हें अधिक गौरवशाली रूप देती है, हमारे मस्तिष्क पर सबल रूप में अंकित करती है और उन्हें हमारे कार्यों के नियामक सिद्धांत का रूप दे देती है। उदाहरणार्थ अभी किसी व्यक्ति की आवाज सुनता हूँ जिससे मैं परिचित हूँ और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज सुनता हूँ जिससे मैं परिचित हूँ और मुझे ऐसा लगता है कि वह आवाज पड़ोस के कमरे में आ रही है। मेरी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत यह विषय मुझे तुरन्त उस व्यक्ति का भान करा देता है और साथ ही साथ उसकी तमाम आसपास की चीजों का भी। मैं उन सबसे ऐसा चित्रित कर लेता हूँ मानो वे सब मेरे सामने साक्षात् उपस्थित हों और साथ ही साथ उन सबके धर्मों और सम्बन्धों का भी चित्रण कर लेता है जिन्हें मैं उनके साथ वर्तमान जानता रहा हूँ। ये सब बातें मेरे मन में अधिक तीव्रता से समा जाती हैं जैसी गन्धर्वपुरा की भावना से भी नहीं होती। वे भावात्मक व्यापार से बिलकुल भिन्न होती हैं और तरह से सुख-दुख या हर्ष-विषाद में अधिक प्रभावशाली बनी रहती हैं।

४१. तो अब हमें इस सिद्धांत की समूची परिधि की ओर ध्यान देते हुए यह भान लेना चाहिए कि विश्वास की भावना रूढ़ों की काल्पनिक सृष्टि की अपेक्षा अधिक तीव्र एवं स्थायी धारणा को छोड़ और कुछ नहीं है और वह धारणा का प्रकार गृहीत वस्तु का किसी पूर्व प्रत्यक्षित अथवा

स्मृतिगत संस्कार के साथ अनेक बार देखे हुए संयोग का प्रतिफल मात्र है। मैं यह भी समझता हूँ कि इन मान्यताओं के आधार पर मानव मन के अन्य तत्सदृश व्यापारों को जानना और उनके कार्यों का इससे भी अधिक सामान्य सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध ढूँढ़ निकालना कुछ कठिन न होगा।

हम यह पूर्व में ही सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति ने विचारगत परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर रखा है और ज्योंही एक विचार आता है वह तुरन्त ही अपने से सम्बद्ध अन्य विचार को ले आता है और उस ओर हमारे ध्यान को अविदित, मन्दगति से आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार के संयोग अथवा साहचर्य नियम को त्रिधी मान सकते हैं—सादृश्य, सायुज्य अथवा प्रजनन; ये ही तीन ऐसे अनुबन्ध हैं जो हमारे विचारों को एकत्र करते हैं और विचार अथवा संवाद की उस अनुस्यूत परम्परा को प्रवाहित करते हैं जिसे हम सकल मानव जाति में न्यूनाधिक मात्रा में पाते हैं। अब यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है जिस पर प्रस्तुत समस्या का हल अवलम्बित है। क्या यह बात सब सम्बन्धों के विषय में मानी जा सकती है कि जब वस्तु जगत् में से किसी एक के भी इन्द्रियगोचर अथवा स्मृतिगत होने पर मानव मन न केवल तत्सम्बन्ध की धारणा कर लेता है वरन् वह किसी भी साधनान्तर द्वारा प्राप्त धारणा की अपेक्षा अधिक तीव्र एवं स्थिर धारणा को बना पाता है? यह मान्यता प्रजनन नियम के अन्तर्गत हेतु और हेतु-मान् के सम्बन्ध में तो अवश्य सत्य दीख पड़ती है। और यदि यही बात अन्य सन्निकर्षों के अथवा साहचर्य नियमों के सम्बन्ध में पायी जाय तो यह फिर मानव मन के समस्त व्यापारों में वर्तमान एक व्यापक सामान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत की जा सकती है।

अब हमें हमारे लक्ष्य साधन के हेतु प्रथम प्रयोग के रूप में यह समझना चाहिये—जब हम किसी अनुपस्थित मित्र का चित्र देखते हैं तो कल्पना सादृश्य केवल तुरन्त ही उभर आती है और तज्जन्य प्रत्येक भाव सुखात्मक या दुखात्मक एक नये संवेग तथा तीव्रता को धारण कर लेता है। इस प्रभाव

के प्रादुर्भाव में सादृश्य सम्बन्ध तथा तात्कालिक संस्कार दोनों ही युगपत् काम करते हैं। जब चित्र उसके स्वरूप के साथ सादृश्य नहीं रखता तब वह हमारे विचारों को उतनी उत्तेजना नहीं देता और जब चित्र भी न हो और न वह व्यक्ति हो तो मन चाहे एक की कल्पना कर दूसरे की ओर दौड़ जाय, पर वह यह अनुभव करता है कि उसके विचार उस दशा में अपनी गतिविधि द्वारा कहीं दुर्बल हुये हैं न कि सबल एवं जागृत। हमें मित्र के चित्र देखने में प्रमोद होता है जब वह सामने रखा जाय, मगर जब हटा दिया जाय तो हम उसकी प्रतिमा का ध्यान कर साक्षात् उस पर विचार करना अधिक पसन्द करेंगे जब कि वह उतना ही दूरस्थ और ओझल रहता है।

इसी प्रकार के उदाहरण हमें रोमन कैथलिक धर्मावलम्बियों के उत्सवों में भी मिलते हैं। इस धर्म के अनुयायी ऐसा मानते हैं और प्रतिमा पूजन के पक्ष में यह युक्ति देते हैं। जिसके सम्बन्ध में वे प्रायः निन्दित किये जाते हैं कि आसनादि बाह्य क्रियाओं के कारण उन पर अपने भक्तिभाव को जागृत करने तथा रसोद्रेक को प्रगति सम्पादन करने में ऐसा अधिक प्रभाव पड़ता है जो अमूर्त एवं दूरस्थ विषयों की ओर निर्विकल्पक रूप में प्रेरित किये जाने पर क्षीण हो जाया करते हैं। उनका कथन है कि ऐसा करने से वे अपने आराध्य इष्ट की प्रत्यक्ष एवं मूर्तरूप में प्रतिच्छाया उपस्थित कर उनके द्वारा इष्टदेव के साथ कहीं अधिक निकट सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं जो अन्यथा केवल ध्यानात्मक धारणा से सिद्ध नहीं हो सकता। मूर्तरूप हमारी धारणाओं पर अमूर्त की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादन करते हैं, और वह प्रभाव सादृश्य के कारण अपने अनुयोगी का स्वरूप अधिक सजीवता से उपस्थित करते हैं। इन परम्पराओं तथा युक्तियों से मैं इतना ही अनुमान करता हूँ कि भावनाओं को प्रबुद्ध करने में सादृश्य का प्रभाव जनसाधारण के अनुभव से सिद्ध है और चूँकि हर हालत में सादृश्य और तज्जन्य तात्कालिक संसार सदा सहयोगी होते हैं हमारे पास पूर्वोक्त सादृश्य नियम की यथार्थता को प्रामाणित करने के लिए पर्याप्त प्रयोगात्मक सामग्री हो गयी है।

४२. हम उपर्युक्त प्रयोगों की प्रामाणिकता को अन्य प्रकार के

प्रयोगों द्वारा और भी अधिक दृढ़ बना सकते हैं और एतदर्थ सायुज्य एवं सादृश्य के प्रभावों का अध्ययन अब किया जाय। यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक भावना की तीव्रता का ह्रास दूरस्थता कर देती है, और किसी भी विषय का विचार मन को तत्सम्बद्ध विषय की ओर ले जाता है परन्तु विषय की साक्षात् उपस्थिति ही एक ऐसा साधन है जो हमारे मन की उत्कृष्ट सजीवता को विषयग्राही बनाता है। जब मैं घर से कुछ ही मील दूर होता हूँ तो वह मेरे मानस चित्र में अधिक निकट उपस्थित होता है अपेक्षाकृत उस अवस्था में जब मैं घर से कई कोसों दूर होऊँ यद्यपि ऐसी दशा में भी मेरे मित्रों तथा परिवार के सम्पर्क की भावना अवश्य ही उनका चित्र मेरे समक्ष उपस्थित कर देती है। दूरवर्ती दशा में दोनों ही विषय भावनामात्र हैं जो कि एक से दूसरी ओर प्रगमन सहज एवं सुलभ है। इतना होते हुए भी वह एक विषय से दूसरे विषय की ओर गति ही स्वयं, अव्यवहृत संस्कार के अभाव में मानसिक चित्रों को उत्कृष्ट सजीवता प्रदान करने में असमर्थ होती है। कोई भी इसमें सन्देह नहीं कर सकता कि जितना प्रभाव सादृश्य एवं सायुज्य सम्बन्ध रखते हैं उतना ही प्रजनन सम्बन्ध भी रखता है। श्रद्धालु जनता सन्त महात्माओं के चित्र या विशेष स्मारक इसी भावना से रखती है कि उनकी प्रतिमा अथवा प्रतीक भक्तिभाव को सजीव बनाने के साधन होते हैं और उनके आदर्श अनुकरणीय आत्मा के साथ उनका सम्पर्क इन साधनों द्वारा अधिक निकट स्थापित हो जाता है और उनकी कल्पना उन्हें अधिक दृढ़, सजीव एवं सुव्यक्त हो जाती है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सर्वोत्तम प्रतीक तो वही है जो किसी सन्त का चित्र हो और यदि उसके वस्त्र तथा अन्य दैनिक उपकरण भी इसी कोटि के माने जाय तो उसका रहस्य भी यही है कि वह सामग्री रात-दिन उस सन्त के सायुज्य में थी और उनका दर्शन भी उसी महात्मा का स्मारक बन जाता है। तथापि ये सब साधन अपूर्ण या हीन प्रभाव के ही उत्पादक होते हैं, उनका सम्पर्क स्वल्पकालीन होने के कारण श्रद्धेय सन्त की मूर्त अवस्था के सम्पर्क की अपेक्षा निम्न प्रभावशाली ही गिना जा सकता है।

४३. मान लो कि अपने मित्र का पुत्र कई दिनों की अनुपस्थिति के पश्चात्

सामने लाकर खड़ा कर दिया जाय तो यह निश्चित है कि वह सम्बद्ध सकल भावनाओं को उद्बुद्ध कर अतीत सम्पर्क एवं स्नेह को अधिक सजीवता के साथ उभार देगा जो अन्यथा प्रतीक द्वारा जगायी नहीं जा सकती। यह एक अन्य निदर्शन है जो उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ़ करता है।

४४. यहां यह समझा जा सकता है कि सम्बद्ध वस्तुजगत् में विश्वास पूर्वगृहीत ही था, अन्यथा सायुज्य सम्बन्ध कोई भी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाता। चित्र का प्रभाव इसी आधार पर माना जाता है कि हमें यह विश्वास बना हुआ है कि हमारा वह मित्र कभी असलियत में था। अपने घर का सानिध्य हमें घर की भावना को भी उद्बुद्ध न कर सकेगा यदि हमें घर की सत्ता में ही विश्वास न हो। अब मैं यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि जहां-जहां यह विश्वास अनुभव अथवा स्मृति से व्यतिरिक्त विषयगत होता है तो सदा सर्वत्र एकसा ही होता है और सदृशकारणों से ही उत्पन्न होता है और उसका बीज वही विचारगति तथा धारणा की सजीवता है जिसका विवरण ऊपर किया जा चुका है। जब मैं प्रज्वलित अग्नि में शुष्क ईंधन को डालता हूं तो मेरा मन तुरन्त ही यह सोच लेता है कि वह ज्वाला को बढ़ाने वाला है, बुझानेवाला नहीं। यह विचार की दीड़ कारण से कार्य की ओर प्रस्तुत हुई है, बुद्धि के बल नहीं। इस दीड़ का उद्गम सर्वथा अनुभव और उसका पौनःपुन्य है। कारण यह धारणा सर्वप्रथम प्रत्यानुभव से उत्पन्न हुई थी और वह ज्वाला सम्बन्धी विचार अथवा धारणा को अधिक स्पष्ट एवं सजीव रूप देती है जो केवल कल्पना की शिथिल एवं क्षणिक मनोवृत्ति द्वारा पैदा नहीं की जा सकती। वह तुरन्त ही पैदा हो जाता है। हमारा चित्त एकदम उधर दीड़ पड़ता है और उस धारणा का समूचा बल दे देता है जिसे हमने किसी समय प्रत्यक्षानुभव से प्राप्त किया था ? (मानो मेरी छाती पर कोई कटार अड़ा देता है तो तब नहीं आता जब कोई मदिरा का प्याला लाकर टिकाता है जो संयोगवश उसे भी देखकर वैसा ही ख्याल मुझे तब भी होना जरूर चाहिए।) इस सारे प्रसंग में ऐसी दृढ़ धारणा होने का कारण आखिर है क्या ? सिवाय इसके कि वहां कोई चीज सामने है और उसे देखते ही उसके साथ सदा लगे हुए दूसरे ख्याल का अभ्यास जो कि एक को दूसरे के साथ चटपट

जोड़ देता है। यह कुल मन का व्यापार है, ख्याली तरीका है और यह असलियत की चीज और उसकी सत्ता के सम्बन्ध में किये जाने वाले तमाम निर्णयों में पाया जाता है। और यही मन्तोषजनक है कि हम कुछ ऐसी सदृश्यताएँ देख पाते हैं जो इस मनोवृत्ति को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देती हैं। प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान मूर्त पदार्थ से तत्सम्बद्ध कल्पना हमेशा दृढ़ और ठोस हो तो यह निश्चित है कि नैसर्गिक क्रम तथा हमारे विचारों की परम्परा में पूर्व सिद्ध एकतानत है। यद्यपि वे शक्तियाँ जो कि नैसर्गिक क्रम को सूत्रबद्ध करती हैं हमें शायद मालूम न भी हों तथापि हमारे विचार और धारणाएँ, हम देखते हैं, उसी पद्धति का अनुसरण करती हैं जैसी और प्राकृतिक क्रियाएँ करती हैं। अभ्यास अथवा पौनःपुन्य ही एक ऐसा सिद्धांत है जिससे पारस्परिक सम्वाद स्थापित किया जाता है और वह हमारी जाति की स्थिति के लिये इतना आवश्यक है कि इसी से हमारी कार्यप्रणाली में एक प्रकार नियमितता पायी जाती है चाहे वह हमारे जीवन की कैसी ही घटना या परिस्थिति में क्यों न हुई हो। यदि पदार्थ की प्रत्यक्ष सत्ता तत्सम्बद्ध अन्य सकल वस्तुजगत् की कल्पना को जागृत न करती होती तो हमारा समूचा ज्ञान केवल स्मृति तथा साक्षात् अनुभव की सीमित परिधि में ही मर्यादित रहता और हम साधन से साध्य का सम्बन्ध भी घटित न कर पाते और न हम अपनी शक्तियों को हित साधन में अथवा अमंगल के निवारण में कभी लगा सकते। जो चरम कारण के अन्वेषण तथा चिन्तन में ही आह्लाद प्राप्त करने वाले हैं उनके लिए यहाँ चमत्कार तथा श्लाघा का विषय खूब मिल जाता है।

४५. पूर्व प्रतिपादित वाद को और अधिक पुष्ट करने के हेतु मैं एक और उपपत्ति रखना चाहता हूँ। तुल्य कार्यों से तुल्य कारणों का अनुमान अथवा तुल्य कारणों से तुल्य कार्यों का अनुमान करने वाला मनोव्यापार प्राणिमात्र के जीवन के लिए इतना आवश्यक है कि यह सम्भव नहीं कि इस अमूल्य जीवन को हमारी बुद्धि के हेत्वभासपूर्ण निगमनों के भरोसे छोड़ दिया जाय, कारण हमारी बुद्धि अपने व्यापार में मन्द होती है और शैशव के प्रारम्भिक वर्षों में किसी भी मात्रा में प्रस्फुरित नहीं होती और अपने अपने सर्वोत्तम विकास के समय भी, मानव जीवन के प्रत्येक आय-

भाग तथा कालक्रम में इसका संशय विपर्यय में पड़ जाना नितान्त सम्भावित है। अतएव इतने परमावश्यक मनोव्यापार को भ्रम से सुरक्षित रखना ही बुद्धिमानी है और उसके आधार के लिए कोई ऐसी नैसर्गिक चेतना या सहजवृत्ति को ही बनाना चाहिए जो अपने काम में कभी गलती न करने वाली हो और जो हमारे जीवन एवं विचार के प्रथम प्रादुर्भाव के साथ ही प्रकट होती हो और जो बुद्धि द्वारा हठात् एवं श्रमपूर्वक उपलब्ध निर्णयों से सदा स्वतंत्र रहे। जिस तरह प्रकृति हमें अपने स्नायु, घमनी आदि का ज्ञान न होते हुए भी अपने गात्रों का उपयोग करना जन्मतः सिखा देती है उसी तरह उसने हममें एक ऐसी चेतना भी रख दी है जिसके बल पर हमारे मन में आप ही आप उसी प्रकार की आभ्यन्तर विचारों की सम्बद्ध परम्परा बहती जाती है जैसी कि बाह्यपदार्थों में निसर्ग ने रखी है। यद्यपि हम उन सब अन्तर्हित शक्तियों से अपरिचित भी हों जिन पर पदार्थों की उत्पत्ति का सतत् प्रवाह एवं अनुक्रम निर्भर रहता है तथापि हम उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा कार्यकारण भाव को बुद्धि के अविश्वसनीय व्यापारों का अवलम्बन लेकर ही अपनी नैसर्गिक सहज चेतना के बल पर हर आयु, अवस्था एवं दशा में समझने में समर्थ होते हैं।

छठा परिच्छेद

सम्भाव्यता^१

यद्यपि इस संसार में दिष्ट या अवसर जैसी कोई वस्तु नहीं है, तथापि किसी भी घटना विशेष का तात्त्विक कारण हमें न विदित होने के कारण हमारा यह अज्ञान हमारी बुद्धि पर वैसा एक प्रभाव डालता है जिससे हम इस प्रकार की मति या विश्वास रखने लगते हैं।

४६. हां, सम्भाव्यता अवश्य एक वस्तु है जो किसी भी घटना के होने या न होने के संयोग में अधिकतर शक्यता के कारण उत्पन्न होती है और ज्यों-ज्यों यह शक्यता बढ़ती जाती है, विरोधी अवसरों को वह क्षीण कर देती है। इस वजह सम्भाव्यता अपेक्षाकृत वृद्धि को पाकर अपने और अधिक मात्रा में दृढ़ विश्वास को जमा देती है जिसे हम वरिष्ठ शक्यता कहते हैं। यदि किसी साँचे को किसी एक चित्र अथवा अनेक बिन्दुओं से चारों ओर अंकित कर दिया जाय और शेष दो भाग पर कोई दूसरा चित्र अथवा अन्य किसी स्वरूप के बिन्दुओं का समूह अंकित कर दिया जाय, यह अधिक संभव है कि प्रथम मुद्राएं द्वितीय की अपेक्षा अधिक बार घूमेंगी, और उसी तरह यदि उस साँचे के मान लो हजार बाजू हों

१. श्रीयुत लाक समग्र तर्कों को निर्देशक तथा सम्भाव्य तर्कों में विभक्त करते हैं। इस दृष्टि से, हमें कहना होगा कि यह वस्तु केवल सम्भावित ही है कि सब मानव गतिशील हैं अथवा यह कहना कि सूर्य फिर कल उदित होगा। परन्तु यही बात यदि हम जनसामान्य की व्यवहारिक भाषा में कहें तो हमें तर्क को त्रिधा-विभक्त करना चाहिये। १. निदर्शनात्मक, २. प्रमापक, ३. सम्भाव्य। प्रमापक तर्क से हमारा आशय उन तर्कों से है जो अनुभवमूल होकर संशय या विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ते।

और उनमें एक छोड़कर सब पर एक-सी ही मुद्राएं अंकित की गयी हों और केवल एक पर ही भिन्न, प्रकार की हों तो प्रथम के आवर्तन की सम्भाव्यता और अधिक बढ़ जायगी और उस घटना के होने की आशा अथवा भविष्य सत्ता में हमारा विश्वास और भी अधिक दृढ़ एवं स्थिर हो जायगा। यह उपपत्ति अथवा विचारक्रम चाहे तुच्छ एवं अस्पष्ट क्यों न प्रतीत हो, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालों को तो वह विचारार्थ कौतुकपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती ही है।

४७. यह स्पष्ट है कि जब हमारा मन उस सांचे को फेंकने पर पैदा होने वाली घटना की कल्पना करता है, वह किसी भी पहलू से उसके गिरने की सम्भावना मानता है और इसे ही वास्तव में दिष्ट या अवसर कहते हैं जिसमें सद्गत समस्त परिणामों के लिए एक-सा अवसर या संभाव्यता पायी जाती हो। परन्तु यह देखना है कि अधिकांश पहलू एक ही मुद्रा को ही लिये है मन अधिकतर उसी मुद्रा की ओर बना रहता है और शक्यता अथवा अवसर के चक्र में उसकी ही स्थिति अधिक बार पाता है जिस पर हमारा अन्तिम निगमन आधारित है। एक ही घटना विशेष में विभिन्न पहलुओं का पुरावर्तन तुरन्त ही, किसी नैसर्गिक अतर्क्य क्रम के कारण विश्वास की भावना को पैदा करता है और उस घटना को उसके प्रतियोगी की अपेक्षा महत्व दे देता है। कारण प्रतियोगी का आवर्तन अपेक्षाकृत कम बार उपस्थित हो अल्पाश्रित ही रह जाता है। यदि हम यह मान लें कि विश्वास वस्तुगत वह धारणा है जो कल्पित वस्तु की कल्पित सत्ता की अपेक्षा अधिक तीव्र एवं दृढ़ होती है तो स्यात् हम किसी सीमा तक इस मनोव्यापार का मूल कारण बताने में समर्थ हो सकें। कल्पना की अपेक्षा यह प्रत्यक्ष दृष्ट पुरावृत्ति कहीं हमारे मन पर अधिक दृढ़ भावना को अंकित करती है, उसे अधिक शक्ति एवं स्फूर्ति देती है, हमारे भावों तथा भावनाओं को अधिक प्रभावित करती है या एक शब्द में कहें कि वह उस आधार तथा अनुच्छेद निर्भरता को उत्पन्न करती है जो हमारी मति एवं विश्वास के यथार्थ स्वरूप का घटक है।

कारणगत सम्भाव्यता और दिष्ट प्रायः समकोटि के ही हैं। कुछ

कारण ऐसे होते हैं जो सदा कार्य विशेष की उत्पादन विधि में एक रूप और निरन्तर रहते हैं और अद्याविधि उनकी क्रिया में एक भी उदाहरण विफलता अथवा अनियमितता का उपलब्ध नहीं होता। अग्नि ने सदा ही दाहकता का निदर्शन दिया और जल ने हमेशा प्राणिमात्र को निमज्जन का ही। चेतना एवं आकर्षण के द्वारा गति की उत्पत्ति का नियम एक सामान्य व्याप्ति है जिसने आज तक किसी अपवाद को अवसर नहीं दिया। परन्तु कुछ ऐसे भी कारण होते हैं जो कुछ अनियत एवं अनिश्चित पाये जाते हैं—जमालगोटा सदा रेचक नहीं होता और न अफ्रीम ही सबसे सदा निद्राजनक ही होती है। यह ठीक है कि जब भी कोई कारण अपने निजी परिणाम को पैदा करने में विफल पाया जाता है तो दार्शनिक लॉग इम विफलता का कारण प्रकृति की अनियमितता नहीं मानते, वरन् यही मानते हैं कि कुछ अन्तर्हित कारण है कि जिसने किसी स्थान पर मूल कारण ने व्यापार का प्रतिरोध किया है। घटना सम्बन्धी हमारे तर्क तथा निगमन में माना इस सिद्धांत को कहीं स्थान ही नहीं हो। अभ्यासवश अतीत से भावी पर जाने की सर्वविधि अनुमान की प्रक्रिया निश्चित होने के कारण जहां-जहां अतीत ने एकरूपता एवं नियमितता प्रदर्शित की है, हम उस अतीत के आधार पर भविष्यत् की सम्भावना अधिक विश्वस्तता से करते हैं और तद्विपरीत मान्यता के लिये कोई अवकाश नहीं देते। परन्तु जहां आपाततः सदृश कारणों से विभिन्न कार्यों का प्रजनन हम पाते हैं तब अतीत से भविष्यत् की कल्पना करते समय उन सब ही विभिन्न परिणामों को हमारे मन में उपस्थित करना चाहिए और सब का विचार यथोचित किये जाने पर ही किसी घटना या परिणाम विशेष की सम्भाव्यता हम निश्चित कर सकते हैं। यद्यपि हम अधिकतर प्राधान्य उसे ही देते हैं जो परिणाम अधिकतर किसी कारण विशेष से निकला हो और हम उसी की पुनरावृत्ति की सम्भावना भी करने हों, पर हमें अन्य परिणामों की कल्पना को भी उपेक्षित नहीं करना चाहिये वरन् हमें प्रत्येक परिणाम को अपनी-अपनी आवृत्ति की संख्या के आधार पर अनुपातशः महत्व तथा प्रामाण्य देना चाहिए।

यूरोप के प्रायः प्रत्येक प्रदेश में यह अधिक सम्भव है कि जनवरी में

हिम वर्षा हो अपेक्षाकृत इसके कि सम्पूर्ण मास खुला रहे। किन्तु यह सम्भावना केवल विभिन्न वायुमंडल पर निर्भर है और दूरतम उत्तरस्थ राज्यों में तो निश्चितप्राय ही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जब हम किसी कारणजन्य कार्यनिर्धारण हेतु अतीत से भविष्यत् की ओर प्रस्तुत होते हैं तो हम विविध घटनाओं की गणना उसी अनुपात में करते हैं जिसमें वे पूर्व में हुई हों—उदाहरणार्थ एक सौ बार हुई तो दूसरी दस बार और तीसरी एक बार। चूंकि अधिकांश अनुभव किसी एक घटना का हुआ है तो वह अनुभव हमारी भावी विषयक कल्पना को दृढ़ बनाकर उस भावना को जन्म देती है जिसे हम विश्वास कहते हैं और वह अपने पात्र को तद्विरोधी उस घटना की अपेक्षा प्राधान्य देती है तो उतनी ही संख्या के अनुभव से प्रमाणित न होकर अनुभव में उतनी बार आवृत नहीं हुई कि उसके पक्ष में अतीत ज्ञान को भविष्यत् सम्बन्धी अनुमान का विषय बना लें। अद्याविधि स्वीकृत दर्शन की किसी भी परम्परा के आधार पर प्रकृत मनोव्यापार का मूल हेतु कोई बताने की चेष्टा करे तो उसे तत्काल कठिनाई का अनुभव होने लगेगा। मैं तो इतना ही पर्याप्त समझता हूं कि यदि इस परिच्छेद में प्रस्तुत दिग्दर्शन दार्शनिकों के कुतूहल जागृत कर दे और उन्हें इस तथ्य का भान हो जाय कि ऐसे कौतुकाकीर्ण और उदात्त विषय का विवरण करने वाले प्रचलित वाद कितने अपूर्ण एवं दोषपूर्ण हैं।

सातवां परिच्छेद

अनिवार्य सम्बन्ध का रूप

४८. नैतिक विज्ञान की अपेक्षा गणितशास्त्र का एक अधिक गुण यह है कि गणित के पदार्थ प्रत्यक्षगोचर होने के कारण सदा स्फुट एवं निर्धारित रहते हैं। फलतः उनमें परस्पर सूक्ष्मतम भेद भी तुरन्त दृष्टिगत हो जाता है और तत्सम्बन्धी पदावली सदा ही, बिना किसी परिवर्तन एवं द्वैधीभाव के उसी आशय को प्रकट करती है। एक अण्डाकृति कभी वर्तुल का बोध नहीं करती और न कभी उपवृत्त ही वक्र का। समत्रिभुज और विषम त्रिभुज में विभेदक लक्षण, गुण अवगुण, उचित अनुचित के लक्षण की अपेक्षा कहीं अधिक निश्चित हो सकते हैं। ज्यामिति में यदि किसी पारिभाषिक पद का प्रयोग किया जाय तो मस्तिष्क आप ही सदा उससे लक्षित द्रव्य की परिभाषा की ओर परिणत हो जाता है और यदि परिभाषा का प्रयोग ही न किया गया हो, तो वह वस्तु स्वयं ही प्रस्फुरित हो जाती है जिससे उसके स्वरूप का भलिभांति बोध किया जाय। परन्तु अन्तःकरण के सूक्ष्मभाव अथवा बुद्धि के विविध व्यापार, अथवा भावों के विविध उद्रेक वस्तुतः स्पष्ट होने पर भी विचार किये जाने पर मन से खिसक जाते हैं और न यही संभव है कि हम आधाररूप को प्रत्यक्ष जब चाहें उपस्थित कर दें। अतएव द्विरूपता एवं अनिश्चितता ने हमारे तर्कों में शनैः शनैः स्थान ग्रहण कर लिया और सदृश विषय अभिन्न माने जाने लगे, फलतः अपने मौलिक आधार से कहीं दूर पाकर निगमन पहुँचने लगे। तथापि इतना अवश्य दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि यदि हम गणित सम्बन्धी शास्त्र को सही-सही देखें तो उनके गुण एवं अवगुण लगभग तुल्यरूप ही पाये जायेंगे। और दोनों ही प्रकार के विज्ञान समकोटि के ही उतरेंगे। यदि हमारा मस्तिष्क ज्यामिति के स्फुट एवं निश्चित विचारों को सुगमता से ग्रहण करता है, तो उसे अवश्य ही लम्बे

लम्बे और अधिक पेचीदे तर्कों की परम्परा को भी उसी तरह ग्रहण कर परस्पर विभिन्न विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए ताकि उस विज्ञान के सूक्ष्मतर तथ्यों तक पहुँच सकें। और यदि विचार, अत्यन्त सावधानी के अभाव में, गहन एवं सम्भ्रान्त रूप को धारण कर लेते हैं तो यह मानना होगा कि नैतिक विमर्श में अनुमान बहुत ही सुगम एवं नियमित होते हैं और परिमाण एवं संख्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों की अपेक्षा नैतिक दर्शनों में अन्तिम निगमन तक पहुँचा देने वाले मध्यवर्ती सोपान कहीं कम होते हैं। वस्तुतः नैतिक तर्क धारा में प्रयुक्त अंशों की अपेक्षा कितने ही अधिक अवयवों से भरी हुई प्रत्येक प्रतिज्ञायुक्ति द्वारा कृत ज्यामिति में पायी जाती है, कारण नैतिक तर्क कभी भी शश-श्रृंग जैसी असम्भव कल्पना नहीं करते और न वे केवल काल्पनिक ही होते। यदि हम मानव के मानसिक तत्वों को पहिचानने की चेष्टा करें और कुछ हद तक इस ओर तर्क को आगे बढ़ावें तो हमारी प्रगति सन्तोष-प्रद हो जाती है। और यह हमें स्फुटतया प्रतीत होने लगता है कि कार्य कारण भाव की खोज में स्वयं प्रकृति ने कितने प्रतिबन्ध लगा दिये हैं जो कि लगभग हमें अज्ञता की कोटि तक पहुँचा देते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि नैतिक अथवा आध्यात्मिक दर्शनों में प्रगति में बाधक दो ही हैं—विचारगत अस्पष्टता और पदावली का अनेकान्तिक स्वरूप। गणित-शास्त्रों में प्रधान कठिनाई है लम्बे-लम्बे तर्कों की, विचार की व्यापकता की जो तत्सम्बन्धी निर्णयों तक पहुँचाने में अत्यन्त आवश्यक होते हैं। और सम्भवतः हमारे प्रकृति विज्ञानों में गतिरोध का कारण है प्रयोगों एवं वस्तुप्रदर्शन का उचित मात्रा एवं रूप में अभाव। कारण ये प्रयोग तो प्रायः अवसराधीन हैं और जब चाहे तब बौद्धिक सूक्ष्म गवेषणा के लिये उपलब्ध नहीं हो सकते। चूँकि अद्यावधि नैतिक दर्शनों ने उतनी प्रगति नहीं की जितनी ज्यामिति अथवा पदार्थविज्ञान ने की है अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विज्ञानों में यदि कहीं पार्थक्य है तो उन्हीं कठिनाइयों को लेकर है जो उसकी प्रगति के बाधक हैं। और वे कठिनाइयाँ इसी कारण विशिष्ट योग्यता एवं अवधान द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। अध्यात्म विज्ञान के कई पदार्थ दुरूह होते हैं जिनमें शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति

अथवा आवश्यक सम्बन्ध आदि ऐसे अत्यन्त दुरूह पद हैं जिनका उपयोग प्रतिक्षण हमें हर प्रकार की चर्चा में करना पड़ता है। अतएव इस अनुच्छेद में यथासम्भव हम ऐसी पदावली को तात्पर्य निर्णित करने का यत्न करेंगे जिससे बहु दुरूहता कुछ लुप्त हो जिसके कारण कि इस प्रकार के दर्शनशास्त्र के विरुद्ध इतनी आपत्ति उठायी जाती है।

४९. ऐसा लगता है कि यह मानने में किसी को आपत्तिन होगी कि हमारे विचार किसी न किसी संस्कार के प्रतिविम्ब रूप होते हैं अथवा यों कहिये कि हम किसी भी ऐसी वस्तु की प्रतिमा मनोयोग के द्वारा उपस्थित नहीं कर सकते जिसका पूर्वानुभव हमें बाह्य या आन्तरिक कारणों के द्वारा कभी न हुआ हो। मैं इस वाद को समझाने तथा प्रमाणित करने की चेष्टा पूर्व परिच्छेद दो ही में कर चुका हूँ और मैंने आशा भी प्रकट की है कि उक्त सिद्धान्त का यथावत उपयोग किया जाय तो पाठक कहीं अधिक यथार्थ एवं विशदरूप से दार्शनिक युक्तियों को समझ पायेंगे। कठिन पदार्थ का बोध तो परिभाषाओं द्वारा भी सम्भव हो जाय कारण उनकी परिभाषाएं प्रकृत पदार्थ के अवयवों की परिगणना मात्र अथवा उसके गठन के सम्बन्ध में सरल विचारों का उल्लेख मात्र करती हैं। परन्तु जब हम सुगम से सुगम वस्तु की परिभाषा करने लगते हैं और फिर भी उसमें दुरूहता अथवा अनेकान्तिकता पाते हैं तो—प्रश्न यह उठता है—हमारे पास फिर क्या साधन रह जाते हैं ? किस परिष्कार से हम वैसे विचारों पर प्रकाश डाल सकते हैं जिससे वे हमारे बौद्धिक आलोक में सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित रूप से उपस्थित हो सकें। इसके लिए उन्हीं संस्कारों अथवा मौलिक भावों को उद्बुद्ध करना चाहिए जिसका प्रतिरूप ये आलोच्य पदार्थ हैं। ये संस्कार अधिक तीव्र एवं करणग्राह्य होते हैं। उनमें अनेकरूपता के लिए कोई अवकाश नहीं। वे स्वयं स्वप्रकाश होते हैं। इस युक्ति से हम सम्भवतः एक नये सूक्ष्मालोकयन्त्र एवं सरल से सरल पदार्थ भी इतना स्थूलरूप ग्रहण कर लेगा जिससे कि वह आसानी से हमारे बुद्धिगोचर, स्थूल से स्थूल एवं इन्द्रियग्राह्य वस्तु जैसा स्फुट बनकर हमारे विमर्श का विषय बन जाय।

५०. अतः शक्ति अथवा आवश्यक संसर्ग के असली स्वरूप से परि-

प्रतिचित होने के लिए हमें आधारभूत इन्द्रियजन संस्कार को समझ लेना चाहिए और संस्कार को अधिक निश्चित रूप में स्फुट उपलब्ध करने के लिये हमें जितने भी हो सकें उसके उद्गमस्थानों की खोज कर लेनी चाहिए ।

जब हम बाह्य पदार्थों को देखते हैं और उनके कारणों का व्यापार भी परखते हैं तो हम कभी भी एक ही निदर्शन को पाकर तद्गत शक्ति अथवा सहज संसर्ग का बोध नहीं कर पाते और न उस धर्म को ही जान पाते जो कार्य को कारण से अनुगत कर एक को दूसरे का सदा नियमित रूप से पश्चाद्गामी बनाता है । हम तो इतना ही केवल देख पाते हैं कि एक दूसरे का अनुवर्ती है । विलियर्ड की एक गेंद की प्रेरणा दूसरी गेंद की गति की सहचरी है । बाह्येन्द्रियों को तो एतावन्मात्र बोध ही हो पाता है । और इन दो वस्तुओं के पौव-पर्य से मन किसी भी आन्तरिक भाव अथवा संस्कार को ग्रहण नहीं कर पाता । फलतः किसी भी एकाकी कार्य कारण विशेष को लेकर सहज संसर्ग अथवा तद्गत शक्ति का अवभास नहीं मिलता ।

वस्तु के प्रथम दर्शन से हम कदापि तज्जन्य परिणाम का ऊह नहीं कर सकते । कारण यदि किसी भी कारण की शक्ति अथवा स्फूर्ति मनो-गम्य होती तो हम तुरन्त ही बिना अनुभव के तज्जन्य परिणाम का पूर्वानुभव कर पाते और पहिली बार देखते ही तर्क एवं विचारशक्ति के बल परिणाम को निश्चय के साथ बता देते ।

वस्तुतः द्रव्य का कोई भी अंश ऐसा नहीं होता जो कभी भी अपने प्रत्यक्ष स्वरूप द्वारा तद्गत शक्ति या स्फूर्ति का बोध करा दे, अथवा किसी ऐसे आधार को उपस्थित कर दे जिससे हम यह बता सकें कि इससे यह होता है । संघात, आयास अथवा गति, ये ऐसे धर्म हैं जो स्वतः सिद्ध हैं और कभी अपने परिणामी पदार्थ का निर्देश नहीं करते । प्राकृतिक दृश्य प्रतिक्षण परिवर्तनशील रहते हैं, और एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से अविच्छिन्न गति के साथ उत्पन्न होते रहते हैं, तथापि उस यंत्र को चलाने वाली शक्ति का सामर्थ्य हम से छिपा रहता है और इस सामर्थ्य का स्थूल के प्रत्यक्ष गुणों के दर्शन से आविर्भाव नहीं होता । हम यह

जानते हैं कि उष्णता सदा ज्वाला की सहचरी है परन्तु उनमें कौन संबंध है इसकी कल्पना अथवा ऊह करने का भी हम अवकाश नहीं पाते। अतएव वस्तु परामर्श से तद्गत शक्ति की कल्पना एकाध निदर्शन के आधार पर सर्वथा असम्भव है, कारण, कोई भी पदार्थ अपनी निजी शक्ति को स्वरूपतः प्रकट नहीं करता जिससे हमारी कल्पना को आधार मिल जाय।^१

५१. जब यह सिद्ध है कि बाह्य पदार्थ जिस रूप में हमें प्रत्यक्ष गोचर होता है अपनी शक्ति अथवा अनिवार्य सम्बन्ध का कुछ निदर्शनों द्वारा हमें कुछ भी बोध नहीं करा सकता तो हमें अब यह देखना चाहिए कि यह ज्ञान अपने अन्तःकरण पर होने वाली प्रतिक्रिया की ही प्रतिभा है और हमारे आन्तरिक संस्कारों से पुनर्मुद्रित की जा सकती है या नहीं।

यह कहा जा सकता है कि हम प्रतिक्षण इस आभ्यन्तर शक्ति का परिचय पाते रहते हैं, हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी इच्छा द्वारा प्रेरणा पाकर हमारे दैहिक अवयव काम करने लगते हैं और हमारी मानसिक शक्तियाँ भी क्रियाशील होने लगती हैं। इच्छात्मक व्यापार मात्र जाति का जनक है और हमारी कल्पना में नूतन विचार का उद्भावक है। इच्छा की इस प्रेरकशक्ति का अनुभव हम चेतना द्वारा कर पाते हैं इसी तरह हमें शक्ति अथवा स्फूर्ति का बोध होने लगता है और यह दृढ़ विश्वास भी होने लगता है कि हम स्वयं तथा अन्य प्रबुद्ध जीव शक्ति सम्पन्न हैं। तो फिर यह विचार सच तो मनन का

१. श्रीयुत लाक अपने 'शक्ति' नामक अध्याय में कहते हैं कि अनुभव के बल हम यह जानते हैं कि द्रव्यगत सत्त् नवोत्पत्ति होती रहती है और यह तर्क करके कि कोई न कोई शक्ति द्रव्य में ऐसी होती है जो नवीन वस्तु पैदा करती रहती है, हम इस विचारक्रम से शक्ति के अस्तित्व में विश्वास कर सकते हैं। परन्तु कोई भी तर्क नयी मौलिक साधारण कल्पना को नहीं जन्म देता और यह बात दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि नवोत्पत्ति का क्रम हमें नवीन विचार प्रदान नहीं कर सकता।

विम्ब मात्र है, क्योंकि यह हमारे मन की क्रिया पर मनन करने से उद्भूत होता है और इसका अस्तित्व इच्छाशक्ति की प्रेरणा पर अवलम्बित है चाहे वह हमारे शारीरिक अवयवों से अथवा हमारी आत्मिक शक्तियों से सम्बन्ध क्यों न रखता हो।

५२. अब हम इसतर्क की सत्यता का परीक्षण करते हैं। सर्वप्रथम इच्छा का शारीरिक अवयवों पर कितना और कैसा प्रभाव है यह जानने का यत्न हम करेंगे। हम यह देखते हैं कि यह प्रभाव वास्तविक है जो अन्य किसी भी नैसर्गिक व्यापार की भांति केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है और कार्य से सम्बन्ध स्थापित करा देने वाले किसी भी कारण में वर्तमान आयासतः दृष्ट किसी भी शक्ति अथवा स्फूर्ति से कल्पित नहीं किया जा सकता जिससे यह निश्चित किया जा सके कि यह कार्यविशेष निरपवाद रूप में किसी खास कारण का परिणाम है। गात्रों में स्पन्द हमारी इच्छा की प्रेरणा से होता है—इस तथ्य का भान हमें प्रतिक्षण होता है, परन्तु 'स्फूर्ति' जिसके द्वारा यह क्रिया होती है और जिसके बल इच्छा भी इतना अद्भुत व्यापार कर पाती है सदा ही हमारे ज्ञान से इतना परे रहती है कि हमारे समस्त सावधान विमर्श से सर्वदा वह बच निकलती है।

क्योंकि

प्रथमतः इस अखण्ड प्राकृतिक विश्व में इससे भी क्या अधिक कोई राज गुह्य हो सकता है कि शरीर का शरीर से सम्बन्ध हो और जिससे तथाकथित आत्मिक पदार्थ भौतिक पदार्थ पर इतना प्रभाव पा सके कि सर्वश्रेष्ठ परिमार्जित विचार केवल स्थूल पदार्थ को क्रियाशील कर सके? यदि हम किसी भी रहस्यमय इच्छा के बल पर्वतों को उखाड़ सकें अथवा ज्योति पर परिवर्तनमय नक्षत्रमण्डल को नियंत्रित कर सकें तो यह विशाल शक्ति कोई अधिक अलौकिक न होगी और न हमारे लिये बोधातीत ही। परन्तु किसी भी चेतनावश यदि हम इच्छा के अन्तर्गत किसी शक्ति अथवा स्फूर्ति को देख पायें तो हमें ऐसी शक्ति का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, हमें कार्यकारण सम्बन्ध का बोध होना चाहिए और उभय पदार्थ का स्वरूप भी अवगत होना चाहिए और जिसके बल एक पदार्थ

अनेक बार इतर पदार्थ पर अपना प्रभाव रख परिणाम को उत्पन्न करता रहता है।

द्वितीयतः—

हम अपने सकल अवयवों पर तुल्य अधिकार नहीं रखते और हम इसके लिये अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई हेतु बता भी नहीं सकते। क्या हमारी इच्छाशक्ति जितना अधिकार जिह्वा अथवा अंगुलियों पर रखती है उतना हृदय एवं यकृत पर नहीं? यह प्रश्न हमें इतना नहीं उलझा पाता यदि हमें यह विदित हो कि आश्रवर्ग में कुछ शक्ति निहित है, द्वितीय वर्ग में नहीं। तो हमें अनुभव से व्यतिरिक्त भी यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारी इच्छाशक्ति का गात्रों पर अधिकार ऐसी सीमाओं से परिचित हैं। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर हमें उस क्रियात्मक शक्ति अथवा स्फूर्ति का पूरा परिचय मिल जायेगा और तब ही हमें इसका बोध भी हो जायेगा कि इच्छा का प्रभाव निश्चित रूप से उन विशिष्ट सीमाओं तक ही पहुँच सकता है और आगे नहीं।

कोई भी व्यक्ति सहसा हाथ या पैर में पक्षाघात हो जाने पर या इन अवयवों के नष्ट हो जाने पर बार-बार पहिले तो उन्हें उठाने का प्रयास करता है और चाहता है कि वे अपना-अपना व्यापार करें। इस समय वह अपने गात्रों पर अपने अधिकार को उतना ही मानता है जितना कि एक स्वस्थ व्यक्ति अपने स्वस्थ गात्रों पर रखता है। परन्तु चेतना तो कभी भी प्रवंचना नहीं करती। फलतः न पहली और न दूसरी दशा में हमें तद्गत शक्ति का भान रहता है। हम हमारी इच्छाशक्ति की समर्थता को केवल अनुभव से ही जान पाते हैं। अनुभव ही हमें यह सिखाता है कि किस तरह एक घटना दूसरी घटना की सदा पश्चाद्-भाविनी है, परन्तु वह साथ ही साथ हमें यह नहीं बताता कि उनमें ऐसा कौन सा गुह्य सम्बन्ध है जो उन्हें परस्पर सम्बद्ध कर एक दूसरे से अविच्छेद्य बना देता है।

तृतीयतः—

हम शरीर शास्त्र के द्वारा यह जानते हैं कि ऐच्छिक गति की जननी शक्ति का साक्षात् विषय वह अवयव नहीं जो गतिमान होता है परन्तु

विशिष्ट स्नायु यन्त्र तथा प्रण हैं और इसके पीछे भी और भी सूक्ष्म अविज्ञात तत्व हैं जिनके द्वारा गति क्रमशः प्रेरित होकर ही उस अवयव को क्रियाशील बनाती है जिसका व्यापार उस समय व्यक्ति को साक्षात् अभिप्रेत है। क्या इससे भी अधिक कोई ध्रुव प्रमाण हो सकता है जब सकल क्रियाशीलता का आधार एवं आंतरिक भावना अथवा चेतना से साक्षात् एवं पूर्ण रूप परे रहने वाली यह शक्ति अन्तिम हृद तक सर्वथा गुह्य एवं अज्ञात ही बनी रहती है ? देखिये मन किसी क्रिया का होना चाहता है और तुरन्त ही एक ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है जिसे हम जान पाते और जो अभिप्रेत से नितान्त भिन्न है। परिणाम दूसरे परिणाम को पैदा करता है और वह भी उतना ही अविदित होता है—और आखिरकार एक दीर्घ क्रम के अनुसरण के पश्चात् अभिप्रेत परिणाम प्रादुर्भूत होता है। तथापि यदि मूलशक्ति का अनुभव हो सकता तो उसका ज्ञान भी हो सकता है, और यदि उसका ज्ञान हो जाय तो उसके परिणाम का भी बोध अवश्य होगा, कारण—सकल शक्ति अपने-अपने व्यापार से समवेत ही तो सदा रहती है। और इसी तरह व्यतिरेक व्याप्ति भी सिद्ध है—यदि परिणाम अज्ञात है तो उसकी आधारभूत प्रेरक शक्ति का न ज्ञान ही हो सकता है और न भावना का ही। वास्तव में हमें अपने गात्रों को सज्जालित करने की शक्ति की चेतना कैसे हो सकती है जब हमारे पास ऐसे कोई शक्ति ही न हो। हम तो केवल इतना ही जान पाते हैं कि हम किसी प्राणमय चेतनता में स्पन्द उत्पन्न कर सकते हैं जो अन्ततः हमारे गात्रों में गति पैदा करने पर भी इस प्रकार व्यवहार करता है कि उसका स्वरूप हमारे लिए तो सदा अगम्य ही रह जाता है।

उपर्युक्त समस्त तर्क के आधार पर मैं आशा करता हूँ कि किसी प्रकार समीक्षाकरण न करते हुए हम अपनी चेतनात्मक गति को उत्तेजित कर अपने गात्रों को अपने-अपने व्यापार में सन्नद्ध करते हैं तो हमारी निजी शक्ति सम्बन्धी चेतना का प्रतिरूप नहीं होता। गति हमारी इच्छा से प्रेरणा पाते ही कार्यान्वित हो जाती है—यह बात तो साधारण

अनुभव से सिद्ध है जैसे और भी कोई नैसर्गिक पदार्थ अनुभव सिद्ध मिलते हैं। परन्तु दूसरे नैसर्गिक पदार्थों में वर्तमान निहित शक्ति जितनी हमारे बोध से बाह्य रहती है उतनी ही अगम्य वह शक्ति अथवा स्फूर्ति भी है जो हमारे द्वारा प्रेरित गति को जन्म देती है।^१

१. मनु। यह कहा जा सकता है कि शक्ति अथवा सामर्थ्य की कल्पना कराने वाला तो एक प्रकार का प्रतिरोध अथवा प्रतिक्रिया है जो हमें सकल पदार्थ में दीख पड़ती है और जिसका मुकाबिला करने के लिए अनेक बार समूची ताकत लगा देनी पड़ती है और हमारी सारी कूबत जमाकर सामने डटना पड़ता है। वास्तव में हमारा यह उग्र प्रयत्न, जिसका हमें सदा भान होता रहता है, वह मौलिक संस्कार है जिसकी प्रतिमूर्ति है वस्तुगत शक्ति-विषयक धारणा। इस पूर्वपक्ष के प्रतिवाद में यह कहा जा सकता है। हम सर्वप्रथम तो असह्य पदार्थों में शक्ति है ऐसा मानकर चलते हैं जहाँ हम ऐसे प्रतिरोध अथवा प्रतिक्रियात्मक सामर्थ्य के उपयोग की सत्ता को कम नहीं मान सकते जैसे हम शक्ति बिन्दु परमात्मा में मानते हैं जिसके विरुद्ध कोई भी प्रतिक्रिया नहीं की जा सकती फिर हम ऐसा भी मानते हैं कि वह शक्ति मन की है जो हमारे विचारों तथा अवयवों पर अधिकार रखती है। और भी आगे हम उस शक्ति का कारण सामान्य विचारधारा तथा गति में ढूँढ़ते हैं जब कि किसी भी प्रयास अथवा सामर्थ्य के उपयोग के बिना ही इच्छामात्र से क्रिया होती है और अन्ततः हम शक्ति का सम्बन्ध अचेतन से भी स्थापित करते हैं जो कभी भी भाव का विषय हो नहीं सकता। और दूसरी बात यह है कि किसी भी प्रकार के प्रतिरोध पर विजय पाने के प्रयुक्त प्रयास की भावना का किसी भी घटना के साथ प्रकट सम्बन्ध नहीं पाया जाता, कारण, जो परिणाम होता है वह तो अनुभव से जाना जाता है और हम उसका पूर्वज्ञान नहीं कर सकते। प्रतिरोध की भावना शक्ति की कल्पना का मौलिक आधार नहीं हो सकता—हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यद्यपि चेतनगत प्रतिरोध (जो हमारे अनुभव का विषय है) हमें शक्ति की ठीक-ठीक कल्पना नहीं करा

५३. क्या अब हम यह दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि हमें अपने मन में शक्ति अथवा स्फूर्ति का भान तब ही हो सकता है जब हमारी इच्छा द्वारा आदेश पाते ही कोई नयी कल्पना उत्पन्न हो जाती है और हमारी मनोवृत्ति तदाकार बन जाती है जिसे हम समूची तरह देख लेते हैं और अन्त में किसी अन्य कल्पना को स्थान देने के हेतु पूर्वकल्पना को हटा देते हैं और मान लेते हैं कि हमने उसे पूरी तरह समझ लिया है और ठीक-ठीक भी ? मुझे विश्वास है कि ये ही तर्क इस बात को भी प्रमाणित कर देंगे कि यह हमारी इच्छाकृत प्रेरणा की शक्ति हमें शक्ति अथवा स्फूर्ति की वास्तविक कल्पना देने में असमर्थ ही रहती है ।

कारण—

प्रथम—यह मान लेना चाहिए कि जब हम किसी भी शक्ति का अनुभव करते हैं तो हम उस अवस्था को तत् कारण में भी देखते हैं जिससे वह क्षम होती है : क्योंकि ये दोनों ही एकाभावबोधक गिने जाते हैं । अतः हमें कार्य एवं कारण दोनों को ही जानना चाहिए और साथ ही साथ उनके परस्पर सम्बन्ध को भी । तथापि क्या हम कभी यह भी जान पाते हैं कि मानव आत्मा का और मनोगत विचार का क्या स्वरूप है और क्या एक में दूसरे को प्रादुर्भूत करने की शक्ति भी है । यह वास्तविक सर्ग है—असत् से सत् की उत्पत्ति—इसका तात्पर्य है कि सृजनात्मक शक्ति इतनी बड़ी है जो प्रथम अलोक में किसी भी प्राणी के ज्ञान के परे है जो परब्रह्म से निम्नकोटि का हो । अन्ततः यह स्वीकार करना ही होगा कि यह शक्ति न तो प्रत्यक्षगोचर है, न ज्ञान का विषय है और न मनोगम्य ही । हमें केवल परिणाममात्र की भावना सी होती है—एक विचारात्मक सत्ता का भान होता है जो हमारी इच्छा का विधेयमात्र है—परन्तु वह प्रकार जिससे यह सकल सृजन होता है, वह शक्ति जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है सर्वथा हमारे ज्ञानपथ से बाह्य एवं अतीत है ।

द्वितीय—मन का अपने आप पर भी अधिकार बड़ा ही मर्यादित

सकता तथापि वह कुछ धुंधली सी, अप्रमाणित सी भावना हमें जरूर दे सकता है जिससे वह प्रतिरोध प्रकट करता है ।

रहता और उसी तरह शरीर पर भी। और यह मर्यादा भी बुद्धिगम्य नहीं होती और न कार्य-कारण के स्वरूप के ज्ञान से ही वह जानी जा सकती है। वह तो केवल अनुभव एवं सतत् निरीक्षण द्वारा उसी तरह समझी जा सकती है जिस तरह अन्य नैसर्गिक घटनाओं तथा उनकी बाह्य पदार्थों पर प्रतिक्रिया का रूप जाना जाता है। हमारे भावों तथा अवेशों पर हमारा अधिकार मनोविचारों की अपेक्षा कहां बहुत है और मनोविचारों पर भी वह अधिकार अत्यन्त सीमित है। तो कभी कोई इन सीमाओं का निर्देश करने का दम्भ कर सकता है और यह भी बताने का क्यों? वह शक्ति एक स्थान पर क्षीर्ण होती है और अन्य स्थान नहीं?

तृतीय—यह आत्माधिकार विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। एक स्वस्थ पुरुष किसी रुग्ण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकारवान् दीख पड़ता है, हम अपने विचारों पर सायंकाल की अपेक्षा पूर्वाह्न में अधिक अधिकार पाते हैं, और उपवास के समय भरे पेट की अपेक्षा और भी अधिक। क्या हम अनुभव को छोड़ और कोई कारण इन परिवर्तनों का दे भी सकते हैं? तो फिर अब वह शक्ति कहां रही जिससे परिचित होने का हम दम्भ करते रहते हैं? चाहे आध्यात्मिक अथवा भौतिक क्यों न हो—सर्वत्र क्या कोई गुप्त रहस्यमयी यंत्रणा अथवा वस्तुत्वंश की योजना नहीं है जिस पर परिणाम की सत्ता निर्भर है और जो स्वयं अविदित रहने के कारण इच्छा की शक्ति अथवा स्फूर्ति को भी सर्वथा अविज्ञात एवं अबोध बनाये रखती है?

इच्छा निश्चय ही एक मनोव्यापार है जिससे हम भलीभांति परिचित हैं। उस पर मनन करो, उसका पर्यवेक्षण करो। क्या तुम्हें वहां कुछ सृजनात्मक शक्ति जैसी लगती है जो नवीन विचार को जन्म देती है। और एक प्रकार के सृजति भाव को पैदाकर कर्ता की सर्वशक्तिमत्ता का अनुकरण करती है जिसने (यदि मैं ऐसा कह सकूँ तो) प्रकृति के इन समस्त दृश्यों को अस्तित्व प्रदान किया? और जब हम इच्छागत स्फूर्ति से इतने अनभिज्ञ रहते हैं तो हमें इतना सुनिश्चित अनुभव होना चाहिए जिसके आधार पर हम यह विश्वास कर लें कि मानव मनोवांछा जैसी

सीधी-सीधी क्रिया द्वारा इतने अलौकिक परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

५४. जनसामान्य को भारी वस्तु का नीचे गिरना, पेड़ पौधों का उगना, प्राणियों का पैदा होना अथवा भोजन द्वारा पोषण होना जैसी प्रकृति की साधारण एवं नित्य परिचित क्रियाओं का मूल क्या है—यह बता देने में कभी कोई कठिनाई नहीं होती : परन्तु इसी के साथ यह भी मान लो कि प्रत्येक वस्तु के विषय में वे इस शक्ति अथवा स्फूर्ति का भी अन्वेषण कर पाते हैं जो कार्य की जननी हैं और अपने व्यापार में सर्वदा अक्षुण्ण है—तो यह कहना होगा कि वे दीर्घ अभ्यासवश एक ऐसी मानसिक शक्ति को पा जाते हैं। जिसके बल पर कारण को देखते ही वे तुरन्त ही विश्वासपूर्वक उसके सहचर परिणाम की भी कल्पना कर लेते हैं और यह कभी नहीं सोचते कि कोई भिन्न कार्य उस इष्ट कारण से भी कभी उत्पन्न हो सकता है। भूकम्प, महामारी जैसी अघटित घटनाओं द्वारा उत्पादित स्थिति में ही वे असाधारण कार्य के अन्वेषण में उन्हें कारण निर्देश करने में, और किस तरह वह अद्भुत परिणाम हुआ यह बतलाने में भी उन्हें कुछ कठिनाई अवश्य हाती है। ऐसी विशिष्ट समस्याओं के विषय में मानव स्वभावतः किसी अदृष्ट चेतन शक्ति का आधार ग्रहण करता है जिसे वे अद्भुत परिणाम का हेतु मानते हैं और जिसे वे ऐसा समझते हैं कि प्रकृति की सामान्य शक्ति उन घटनाओं के लिए उत्तरदायी नहीं है। परन्तु दार्शनिक वर्ग सदा अपनी दृष्टि को और आगे ले जाने के आदी हैं और तुरन्त ही यह समझ लेते हैं कि साधारण नित्य परिचित वस्तुओं के मूल कारण उतने ही दुर्बोध हैं जितने कि असाधारण वस्तुओं के। साथ ही वे यह भी जान जाते हैं कि हम सदा ही वस्तुओं के बारम्बार होने वाले साहचर्य सम्बन्ध को केवल अनुभव से ही समझ सकते हैं परन्तु उनके बीच सम्भावित सम्बन्ध को अवगत करने में कभी भी सफल नहीं हो पाते।

५५. इस सम्बन्ध में बहुत से दार्शनिक बुद्धि के आग्रह से सर्वत्र उसी सिद्धान्त को मान बैठते हैं जिसे सामान्य जनता किसी अद्भुत अथवा अतिलौकिक या अप्राकृतिक घटना के सामने आने पर ही अवलम्बित करते हैं। वे मन एवं बुद्धि को समस्त वस्तु का अन्तिम

अथवा मौलिक कारण ही न केवल मानते वरन् प्राकृतिक घटना के साक्षात् एवं एकमात्र कारण समझते हैं। उनकी धारणा है कि वे पदार्थ जिन्हें साधारणतः हेतु कहा जाता है वास्तव में प्रासंगिक अवसर मात्र हैं, और किसी भी परिणाम का वास्तविक एवं साक्षात् मूलहेतु कोई भी प्रकृति गत शक्ति अथवा स्फूर्ति नहीं है, मूलहेतु तो परमब्रह्म परमात्मा की अव्यवहृत इच्छा मात्र है जो पदार्थों को परस्पर नित्य घटित करती रहती है। ऐसा ईश्वरवादी दार्शनिक यह नहीं मानते कि विलियर्ड की एक गेंद को जो गति प्राप्त न करती है निसर्ग के मूलाधार किसी शक्ति के कारण है, परन्तु वे तो यही कहेंगे कि वह स्वयं परमेष्ठी का ही व्यापार है जो अपनी इच्छा विशेष के कारण दूसरी गेंद को गतिमान कर देती है, और उसकी वैसी इच्छा प्रथम गेंद के स्पन्दन द्वारा प्रदुर्भूत की जाती है जो उन कतिपय सामान्य नियमों का परिणाम है जिन्हें उसने स्वयं जगत् के शासनार्थ निर्मित किये हैं। परन्तु सतत् खोज में लगे हुए दार्शनिक यह पाते हैं कि जिस सीमा तक हम विभिन्न पदार्थों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की आधारभूत शक्ति से अनभिज्ञ हैं, उतनी सीमा तक हम उस शक्ति के स्वरूप से भी अपरिचित हैं, जो मन का शरीर पर, अथवा शरीर का मन हर अधिकार रखने का मूलाधार है और उतने ही अविदित हम अपनी इन्द्रियों एवं चेतना के होते हुए भी उस मौलिक तत्त्व से भी हैं जो एक स्थिति में अन्य स्थिति की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं बलवती होती है। यही हमारा अज्ञान हमें हर अवस्था में एक ही निर्णय पर पहुँचा देता है। ईश्वरवादियों का मन्तव्य है कि ईश्वर ही शरीर एवं शरीर के संयोग का उपादान कारण है, और ज्ञानेन्द्रियों का यह धर्म नहीं है कि वे बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्ष पाकर मन में स्पन्दन पैदा करें, परन्तु यह तो सर्वशक्तिमान परमेष्ठी की इच्छा विशेष है जो इन्द्रियगत व्यापार के फल-स्वरूप हमारे अन्तःकरण में उस प्रकार की चेतनता को जागृत कर देती है। उसी तरह, हमारी इच्छा पर अधीन वह स्फूर्ति विशेष नहीं जो हमारे अवयवों में स्थानीय स्पन्द को उत्पन्न करती है, परन्तु यह तो ईश्वर ही स्वयं है जो हमारी इच्छा का अनुमोदन करता है। जो

वास्तव में बिना ईश्वरेच्छा का सर्वथा क्लीब एवं मोघ होती है। और उस गति को जागृत करता है जिसे हम भूल से अपनी शक्ति एधं योग्यता समझते रहते हैं। दार्शनिक वर्ग तो इन निगमनों पर पहुँचकर भी विश्राम नहीं लेता। वे अपने इस तर्क की सीमा को मनोव्यापार तक आगे बढ़ाते हैं और यह मानते हैं कि हमारा मानसिक आलोक अथवा विचारजन्य धारणाएँ भी जगत्पिता परमेश्वर कृत आविर्भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। हम जब स्वेच्छा से किसी वस्तु की ओर ध्यान देते हैं और उसकी मानसिक प्रतिमा की भावना करने लगते हैं तब भी वे ऐसा मानते हैं कि हमारी इच्छा उस प्रतिमा की जननी नहीं है, परन्तु वहाँ भी जगन्निर्माता परमेश्वर का ही हाथ है जो उस प्रतिमा को हमारे मन में प्रादुर्भूत कर उसे हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

५६. इस तरह इन दार्शनिकों के मत में हर वस्तु ईश्वरमय है और वे इतने से भी सन्तुष्ट नहीं होते कि ईश्वरेच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता और उसकी अनुमति के बिना किसी में कुछ भी करने की सत्ता नहीं है। वे तो प्रकृति का तथा अन्य वस्तुओं को सकल शक्ति से वंचित कर यह सिद्धांत स्थिर करना चाहते हैं कि दैवी शक्ति के ही अधीन सब कुछ है वह सर्वथा सर्वत्र स्फुट एवं साक्षात् है। वैज्ञानिक भी इस बात को नहीं सोचते कि ऐसी धारणा बनाकर वे उन तत्वों की महत्ता को वास्तव में घटाते जिन्हें वे इतनी आदरणीय बनाने के लिए सचेष्ट हैं। वे स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा से सकल वस्तु को घटित करने की स्वाभाविक ईश्वरीय शक्ति की अपेक्षा ईश्वर की उस शक्ति को अधिक महत्ता दे देते हैं जिसके द्वारा वह हीन कोटि के जीवों को कर्तृत्वशक्ति प्रदान कर देता है। ऐसा मानना कहीं अधिक प्रज्ञापूर्ण होता यदि वे इस विशाल संसार पर के प्रत्येक तंतु को सिद्ध, दूरदर्शिता के द्वारा ऐसा मान स्वीकार कर लेते कि वह आप ही आप दिष्ट द्वारा सम्पाद्यमान सकल कार्य कर लेता और ईश्वर पर यह बोझ न लादते कि वह प्रतिक्षण जगत् के विशाल यंत्र के प्रत्येक अवयव को स्वयं सुसम्बद्ध करता रहे और उसके हर चाक को सदा अपने श्वासोच्छ्वास से अनुप्राणित करता रहे।

यदि हमें उपर्युक्त सिद्धान्त का और अधिक दार्शनिक रीति से खंडन करना हो तो एतदर्थ केवल दो ही निम्नलिखित विचार प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा।

५७. १. सर्वप्रथमतो मुझे ऐसा लगता है कि परब्रह्म परमात्मा की विभुता और सर्वकारिता का यह सिद्धान्त एक इतनी घृष्ट कल्पना है जो मानव विश्वास के साथ स्वीकृत नहीं की जा सकती चाहे कितनी ही अपनी बुद्धि की स्वल्पता का भान उसे क्यों न हो और उसकी क्षमता की संकीर्ण परिधि का भी उसे बोध क्यों न हो और उक्त सिद्धान्त पर पहुंचने वाली तर्क की परम्परा चाहे कितनी ही विशुद्ध क्यों न हो उसे इस बात में दृढ़ विश्वास न भी हो तो भी एक निश्चित सन्देह अवश्य पैदा कर सकता है कि उक्त तर्क ने हमें सर्वथा अपनी शक्ति से विकल बना ऐसे निगमन पर पहुंचा दिया जो हमारे सर्वसाधारण जीवन एवं अनुभव से इतना अधिक दूर है। अपने सिद्धान्त के अन्तिम सोपान तक पहुंचते-पहुंचते तो हम गन्धर्वपुरी में ही प्रवेश कर जाते हैं। और वहां पहुंचकर हमें हमारी तर्क की सामान्य पद्धतियों पर अवलम्बन करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता और न यह सोचने का ही अवकाश रहता कि सादृश्य तथा सम्भाव्यता के सिद्धान्तों में भी कहां प्रामाण्य होता है। हमारा पद क्रम इतना संकीर्ण हो जाता है कि इतनी गम्भीर खाई को वह पार कर ही नहीं सकता। साथ ही साथ हमें प्रत्येक पदक्रम में सादृश्य एवं अनुभव द्वारा ही पथ-प्रदर्शन होता है। हमें यह विश्वास कर लेना चाहिए कि ऐसा कल्पित अनुभव वहां प्रमाण नहीं हो सकता जहां उसका प्रयोग हम अनुभवातीत क्षेत्र में करने लगते हैं। इस विषय पर और विशद विचार हम आगे चलकर करेंगे।

२. दूसरी बात यह है कि उक्त सिद्धान्त या वाद के आधार भूत तर्कों में मुझे कोई बल नहीं दीखता। सच है कि हम इस रहस्य से अभिज्ञ हैं कि पदार्थों में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया किस प्रकार होती रहती है—पदार्थगत शक्ति अथवा सर्वथा बोधातीत है—परन्तु क्या हम उतने ही अपरिचित उस विधि या शक्ति से नहीं हैं जिसके द्वारा मन और सर्वाधिकारी मन भी अपने व्यापार में प्रकृत होता है और अन्य विषयों

पर भी अपना प्रभाव डालता है ^१ मैं विनम्र निवेदन करता हूँ कि यह तो बताइये कि उक्त विषय पर किसी प्रकार बोध होता है । हमें स्वगत इस शक्ति की न भावना है और न चेतना । और हमें परमेष्ठी के संबंध में भी कोई बोध नहीं सिवाय इसके कि हम अपनी शक्तियों पर मनन कर उसकी कुछ कल्पना कर लेते हैं । और यदि हमारा किसी वस्तु के सम्बन्ध में अज्ञान हो तो हमें उसकी सत्ता को अस्वीकृत करना उतना ही आवश्यक होगा जितना किसी भी स्थूलतम द्रव्य के सम्बन्ध में । कारण, निश्चय, हम एक की क्रियाविधि से हैं । प्रेरणा से गतिविधि की उत्पत्ति को मानना इच्छा मात्र से उत्पत्ति मानने की अपेक्षा कहीं कठिन है । यदि हमें किसी प्रकार प्रस्तुत विषय में ज्ञान है तो वह इतना ही है कि हमारा अज्ञान तिमिर उतना ही प्रगाढ़ एवं निविड़ है ।^२

१. परिच्छेद १२ ।

२. यह आवश्यक नहीं कि मैं यहाँ तमस्तत्व का सविस्तार विचार करूँ जिसके सम्बन्ध में कि तत्वदर्शन में इतनी अधिक चर्चा चल पड़ी और जिसका सम्बन्ध प्रकृति से बताया जाता है । हमें अनुभव से यह ज्ञात है कि कोई भी निश्चल या गतिमान पदार्थ अपनी विद्यमान स्थिति में बना रहता है जब तक कोई विशेष कारण उसका प्रतिबन्धक न हो और साथ ही साथ यह भी विदित है कि प्रयोज्य पदार्थ में उतनी ही गति उत्पन्न होती है जितनी स्वयं प्रयोजक पदार्थ में होती है । यह वस्तु स्थिति है और जब हम तमस्तत्व अथवा जड़ता इसे कहते हैं तो हम तामसी प्रकृति के बारे में कुछ नहीं समझते । हम केवल इस वस्तु स्थिति का नामग्रहण करते हैं और उसी तरह जब हम उसके सही स्वरूप को न समझते हुए सिर्फ कुछ परिणाम विशेष की ओर ही संकेत करते हैं । सर आयजक न्यूटन का उद्देश्य शक्ति अथवा स्फूर्ति के गौण कारणों को अपार्थ करने का कभी भी न रहा, गो उनके कतिपय अनुयायियों ने उनके नाम पर उक्त वाद को स्थिर करने की चेष्टा अवश्य की है । इसके विपरीत उस महान् दार्शनिक ने सर्वव्यापी आकर्षण का मूल कहीं व्योमगत क्रियाशील, तरल द्रव्य के अस्तित्व में

दूसरा भाग

५८. उक्त तर्क से निगमन पर पहुँचने की त्वरा में हमने व्यर्थ ही शक्ति की कल्पना अथवा आवश्यक सम्बन्धी स्थापना करने का प्रयत्न किया। केवल यही स्पष्ट हुआ कि पदार्थों की क्रियात्मकता के एक दो निदर्शनों द्वारा हम कितनी ही छानबीन क्यों न कर लें, केवल इतना ही समझ सकते हैं कि एक घटना दूसरी किसी घटना की अनुगामिनी है और यह तब भी नहीं जान पाते कि कारण से कार्य की जतनी कौन-सी शक्ति है अथवा उनमें परस्पर कौन-सा सम्बन्ध है। और वही कठिनाई तब भी उपस्थित होती है जब हम मन और शरीर की क्रियाओं के विषय में चिन्तन करने लगते हैं जहाँ हम यह पाते हैं कि एक की इच्छानुसार दूसरा काम करने लगता है यहाँ भी हम न तो उस बन्धन को देख ही पाते न उसके स्वरूप की कल्पना ही कर पाते जो क्रिया एवं इच्छा अथवा उत्तेजिनी स्फूर्ति को परस्पर बाँधे रखता है। और न तनिक-सा भी बोध हमें अपनी शक्तियों अथवा विचारों पर प्रभुत्व को रखने वाली इच्छाशक्ति का ही हो पाता है। अवएव सामान्यतः यही कहा

समझा है जो भी सतर्कता एवं विनय के नाते उन्होंने उसे केवल सिद्धान्त ही माना है और अधिक प्रायोगिक अन्वीक्षण की सापेक्षता प्रकट की है। मुझे यह अवश्य स्वीकार कर लेना है कि अवश्य ही इन विविध वादों के भविष्य में, कुछ न कुछ असाधारणता है। डीकार्टी ने परमेश्वर की विभुता और एकमात्र शक्ति के सिद्धान्त को प्रस्तुत अवश्य किया है परन्तु उस पर आग्रह कभी नहीं किया। मेलिब्रॉकी तथा डीकार्टी के अनुयायियों ने तो इसे अपनी दार्शनिक आधारशिला ही बनाया। परन्तु उसे इंग्लैंड से कभी मान्यता प्राप्त नहीं हुई। लाक, क्लार्क एवं बुडवर्थ ने तो उक्त वाद को दृष्टिपात भी नहीं किया और सदा यही मःनते रहे कि प्रकृति या शब्द में वास्तविक शक्ति है जो भी वह अन्ततः सिद्ध एवं अधीन है। किन् कारणों से आखिर यह वाद हमारे आधुनिक आध्यात्मवादियों में इतना प्रचलित हो पड़ा ?

जा सकता है कि प्रकृति की रचना में एक भी ऐसा सम्बन्धविषयक निदर्शन नहीं जिसे हम भलीभांति समझ सकें। एक घटना दूसरी घटना की पश्चाद्भाविनी है, परन्तु उनके इस योग के मुख्य तत्त्व को नहीं देख पाते। वे परस्पर संयुक्त प्रतीत होते हैं परन्तु सम्बद्ध नहीं। और चूंकि हम कदापि ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकते जो हमारे अन्तर अथवा बाह्य कार्यों का गोचर नहीं हो। हम यही निश्चय कर पाते हैं कि शक्ति सम्बन्ध के विषय में हमें कोई भावना नहीं और ये वह प्रायः निरर्थक ही गिने जाने चाहिए जब कभी उनका किसी दार्शनिक तर्क अथवा साधारण जीवन के सन्दर्भ में प्रयोग किया जाय।

५९. परन्तु अब भी पूर्वोक्त निगमन से दूर रहने का एक उपाय है अभी एक मार्ग खुला है जिसका परीक्षण हमने अब तक नहीं किया है। अब कभी कोई नैसर्गिक वस्तु या घटना हमारे समक्ष उपस्थित होती है तो कैसी भी सूक्ष्म दृष्टि अथवा निपुणता द्वारा पूर्वानुभूति के बिना यह जान लेना अथवा कल्पना भी कर लेना नितान्त असम्भव होता है कि कौन-सी घटना किससे उत्पन्न होगी और हमारी पूर्वदर्शिता की स्मृतियों को साक्षात् इन्द्रिय सम्पर्क से दूरवर्ती पदार्थ तक पहुंचाना भी अत्यन्त असम्भव होता है। और एक घटना का दूसरी घटना के साथ पौर्वापर्य एक-दो बार देखने पर भी किसी सामान्य नियम को बनाने का हमें अधिकार प्राप्त नहीं होता, न हम यही कह सकते हैं कि सर्वत्र वही घटना वैसी ही घटना के पश्चात् सदा होती रहेगी। चाहे कितना ही प्रामाणिक एवं सुनिश्चित परीक्षण अथवा प्रयोग क्यों न हो परन्तु बिना पौनःपुन्य के एक ही बार इष्ट उदाहरण का केवल सामान्य निगमन कर लेना तो वास्तव में एक अक्षम्य अविस्मयकारिता होगी। परन्तु जब एक प्रकार की घटनाएं अनेकशः एक-सी घटनाओं की पश्चाद्भाविनी देख ली गयी है तो हमें एक के होते ही दूसरी की सम्भावना निश्चित करने में अथवा वस्तुस्थिति को प्रमाणित करने वाले तर्क का उपयोग करने में तनिक भी संकोच नहीं होता। तत्पश्चात् हम उनमें से एक को निमित्त कहते हैं और दूसरे को परिणाम। हम यह भी मानने लगते हैं कि उनके मध्य एक प्रकार का सम्बन्ध है—एक में कोई ऐसी

शक्ति है जो अनिवार्य रूप से दूसरी को पैदा करती है तथा वह सुदृढ़ निश्चितता तथा बलिष्ठ अपेक्षा के कारण कार्य पर होती रहती है।

तब तो ऐसा लगता है कि घटनागत अनिवार्य सम्बन्ध का बोध हमें अनेक निदर्शनों के निरीक्षण से कदापि नहीं हो सकता चाहे वह निरीक्षण कितना भी समूचा सब पहलुओं से क्यों न किया गया हो ? तथापि यह स्पष्ट है कि अनेक निदर्शनों में एक दूसरे से कोई विभेद नहीं होता जैसा एक होता है ठीक उसी तरह दूसरा भी—केवल अन्तर इतना ही होता है कि बारम्बार उसी तरह के निदर्शन को देख हमारा मन अभ्यासवश एक घटना को होते देख दूसरी तत्सहयोगिनी घटना को अवश्यम्भाविनी मानकर उसकी भी भविष्यतत्सत्ता को साथ ही साथ मानने तैयार हो जाता है। अतएव यही मानना उचित है कि मनसा अनुकूल यह सम्बन्ध अथवा इष्ट पदार्थ से सर्वदा तत्सहयोगी पदार्थान्तर की और अभ्यासवश कल्पनामय परिवृत्ति ही नैसर्गिक संसर्ग अथवा पदार्थगत सहज शक्ति की बोधिका है। इस विषय में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता। पदार्थ का सर्वदिक निरीक्षण करो मगर इसके अतिरिक्त आपको कुछ भी जान न पड़ेगा। यह तात्त्विक अन्तर है कि निदर्शन के दर्शन में और अनेक निदर्शनों के परीक्षण में जो शक्ति की कल्पना का उद्गम है। उदाहरणार्थ—बिलियर्ड की दो गेंदों के संघर्ष को लीजिये—प्रथमबार जब मानव ने प्रेरणा के द्वारा गति प्राप्ति का एक निदर्शन देखा तो वह घटना की जननी है कि यह निर्णय कभी न कर सका केवल वह इतना समझ सका ये दो एक दूसरे से किसी तरह सम्बद्ध अवश्य हैं। परन्तु जब उसने ऐसे अनेक निदर्शन देखे तो उनमें कार्यकारण भाव है ऐसा उसकी समझ में आया। तो यह प्रश्न यहाँ उठता है कि ऐसा कौन सा मनोगत परिवर्तन हुआ है जिसने पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना को जन्म दिया ? और कुछ नहीं सिवाय इसके कि वह अपनी कल्पना में इन दो घटनाओं को आपस में सम्बद्ध समझने लगा और तुरन्त ही एक के अस्तित्व को देख दूसरे अवश्यम्भावी सत्ता में विश्वास करके लगा। और जब हम यह कहते हैं कि एक विषय दूसरे से सम्बद्ध है हमारा इस कथन से इतना ही तात्पर्य

है कि इन दो विषयों ने हमारे मनोव्यापार में एक संसर्गरूप धारण कर लिया है जिसके आधार हम एक ऐसा अनुमान करते लगते हैं जो दूसरी घटना के अस्तित्व का एक सिद्ध प्रमाण माना जाता है। यद्यपि यह निर्णय कुछ अद्भुत सा अवश्य लगता है परन्तु यह है अवश्य ही पर्याप्त प्रमाण का बल लिये हुए। और यह प्रमाण ऐसा नहीं है जो बोध सामान्य के विषय में वर्तमान अविश्वास अथवा किसी भी नव-धारणा के सम्बन्ध में प्रायः विद्यमान आशंका के द्वारा सहज ही विचलित कर दिया जाय। कारण, मानव तर्क एवं बुद्धि वैभव के सम्बन्ध में निर्बलता अथवा सीमितता को लेकर किये हुए अन्वेषण विषयक शंका से अधिक अन्य कोई निगमन शंकावह नहीं होता।

६०. प्रस्तुत विषय से अधिक अच्छी और कौन-सा उदाहरण इस बात का हो सकता है कि बोध की निर्बलता तथा विस्मयकारी अज्ञान मानव का कितना है? कारण, पदार्थगत यदि कोई ऐसा सम्बन्ध जिसको समूची तरह जान लेना हमारे लिए महत्व का है तो वह है कार्य कारण भाव। इसी पर वस्तु सत्ता सम्बन्धी हमारे समस्त तर्क आधारित हैं। और इसी के बल हम स्मृति अथवा प्रत्यक्ष से अतीत विषयों के सम्बन्ध में कुछ भी दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं। सकल विज्ञान की साक्षात् उपयोगिता तो इसी कारण है कि वह हमें भावी घटनाओं को उनके कारणों के द्वारा ही नियंत्रित करना अथवा नियमित करना सिखाता है। अतएव हमारे सकल विचार एवं विमर्श प्रतिक्षण इसी संसर्ग के सम्बन्ध में व्याप्त रखते हैं।

केवल इतना ही सामान्य रूप से कह सकते हैं कि सदृश्य पदार्थ उनसे सुसदृश पदार्थों के साथ सदा संयुक्त रहते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा अनुभव प्रमाण है। इसी अनुभूति के अनुसार हम कारण की परिभाषा इन शब्दों में दे सकते हैं—कारण वह पदार्थ है जो कि सदा पूर्ववर्ती है और पूर्ववर्ती के सुसदृश अन्य सब पदार्थ दूसरे पदार्थ के सुसदृश अन्य पदार्थों के सदा पूर्ववर्ती रहेंगे। या दूसरे शब्दों में यों कहा जाय कि पूर्ववर्ती पदार्थ के न होने पर परवर्ती पदार्थ कभी सत्ताशाली न हो पायेगा। अभ्यस्त परिणाम के कारण, हेतु का प्रत्यक्ष हमें सदा

ही हेतुमान के सम्बन्ध अनुमान करा दे सकता है। इसका भी हमें पूरा-पूरा अनुभव है। तो फिर हम इस अनुभूति पर केवल एक और परिभाषा कारणकी बना सकते हैं और कह सकते हैं कि कारण वह है जिसका अनुगामी कार्य होता है और जिसका प्रत्यक्ष कार्य के अनुमान का जनक होता है। यद्यपि इन दोनों परिभाषाओं में कारण से व्यतिरिक्त अन्य अंश का आधार लेना पड़ता है, परन्तु इस त्रुटि को हम दूर नहीं कर सकते, न इससे अधिक अच्छा लक्षण ही उसका बना सकते जो कार्यपरक सम्बन्ध का बोध कारणगत करा सके। जब हम कारण के स्वरूप के सम्बन्ध धारणा बनाने को उद्यत होते हैं तो हमें संसर्ग का बोध नहीं हो पाता इतना ही नहीं वरन् हमें अपने ज्ञातव्य के विषय में जरा-सी भी कल्पना नहीं हो पाती। उदाहरणार्थ—हम यह कहते हैं कि तार की यह हलचल किसी एक ध्वनिविशेष का कारण है—परन्तु क्या हम इस उक्ति का अर्थ सही-सही समझ पाते हैं; इस कथन से या तो हम यह समझते हैं कि तार की इस हलचल से इस तरह की ध्वनि पैदा होती है। और ऐसी हलचलों के पश्चात् सदा ऐसी ही ध्वनि उत्पन्न होती रहेगी अथवा यह जानते हैं कि तन्त्री का यह स्पन्द इस ध्वनि विशेष का पूर्वगामी है और उसके प्रत्यक्ष होते ही हमारी मनोवृत्ति इन्द्रियों की ग्राहकता का पूर्वग्रह तुरन्त ही अनुगामी विषय की मानसिक कल्पना कर लेता है। यों हम कार्य कारण सम्बन्ध पर विमर्श इन दो पहलुओं से कर सकते हैं जिसके अतिरिक्त तद्विषयक हमारी और कोई कल्पना बन नहीं सकती।^१

१. परिभाषा एवं निर्वचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति की धारणा उतनी ही द्विष्ट है जितनी कि कारण की। क्योंकि दोनों सदा ही अपने संसर्ग परिणाम अथवा सहयोगी प्रतिफल की भावना को सदा लिये ही उपस्थित होते हैं। जब हम किसी भी पदार्थगत अदृष्ट वस्तु पर विचार करने लगते हैं जिसके द्वारा परिणाम की मात्रा या अंश का निर्धारण एवं निर्णय किया जाता है तो हम उसे शक्ति कहते

मुझे यह भय है कि यदि उक्त वाद को समझने के लिए मैं अधिक शब्दों का प्रयोग करूँ अथवा विविध आलोक से उसी विषय को प्रस्तुत करने की चेष्टा करूँ तो सम्भवतः प्रतिपाद्य विषय कहीं अधिक गम्भीर और कठिन न हो जाय । सूक्ष्म तर्कों के सम्बन्ध में सदा एक ही दृष्टि-बिन्दु हुआ करता है जिसे ठीक-ठीक समझने पर हम विषय को स्पष्ट करने के प्रयास में अधिक सफल हो सकते हैं । और उसी दृष्टि बिन्दु पर

हैं तदनुसार समस्त दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि परिणाम ही शक्ति का परिमापक है । परन्तु यदि तुम्हें शक्ति की कल्पना स्वतः सिद्ध होती तो वे स्वतंत्र रूप से ही शक्ति का माप क्यों नहीं निकाल लेते । एक पदार्थ की गतिविषयक शक्ति उसके वेग में अथवा वेग के प्रमाणानुरूप होती है यह बाद में कहता हूँ अथवा विषमवार परिणामों की तुलना कर निश्चित नहीं किया जाना चाहिए परन्तु साक्षात् माप तौल और तुलना का ही किया जाना उचित है ।

इसी तरह शक्ति, सामर्थ्य, स्फूर्ति आदि शब्दों का बहुधा प्रयोग साधारण बोलचाल में एवं दार्शनिक विमर्श में होता रहता है, तथापि यह कोई इसका प्रमाण नहीं कि हम किसी भी विषय में कार्यकारण भाद के मध्य स्थित संसर्ग से परिचित हैं अथवा एक से दूसरे की उत्पत्ति क्यों कर होती इसका हेतु बता सकते हैं । सर्वत्र प्रयुक्त इन पदों का प्रयोग काफी असावधानी से किया जाता है और उनका तात्पर्य बहुत ही अनिश्चित एवं अनेकान्तिक रूप से किया जाता है । कोई भी चेतन पदार्थ व्यापार की भावना के बिना अपने स्थूल शरीर को गतिमान नहीं कर सकता और प्रत्येक सचेतन को गतिमान किसी बाह्यद्रव्य के द्वारा प्रयुक्त आघात का अनुभव होता है तो ये अनुभव जो प्राणिमात्र में सामान्यरूप से होता रहता है किसी भी अनुमान को जन्म नहीं दे सकते हम पहिले उसे किसी जड़ द्रव्य से सम्बद्ध कर गति का प्रतिवर्तन होता है ऐसा मानते हैं ।

पहुँचने की हमें चेष्टा करनी चाहिए, साहित्यिक लच्छे तो उन्हीं विषयों के लिए सुरक्षित रखने चाहिए जो उस वैभव के अधिक अनुकूल बैठते हैं।

इस परिच्छेद में प्रस्तुत तर्क का सारांश यह है :

प्रत्येक विचार किसी पूर्वानुभूत संस्कार या भावना की प्रतिमा मात्र है और यदि हम किसी संस्कार को नहीं पाते तो यह निश्चित है कि वहां कोई विचार भी नहीं हो सकता। किसी भी द्रव्य अथवा मन के किसी भी व्यापार का एकांकी निदर्शन किसी भी संस्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता और फलतः वह किसी नैसर्गिक संसर्ग अथवा शक्ति की भावना को भी उद्भावित नहीं कर सकता। परन्तु जब अनेक एक से निदर्शन दीख पड़ते हैं और जब सदा एक ही घटना किसी घटना की पश्चाद्भावनी होती दीखती है तो हमें कार्यकारण भाव की कल्पना होने लगती है। तब हमें किसी नये संस्कार या नयी भावना का अनुभव होने लगता है और वह संस्कार, उदाहरणार्थ, एक पदार्थ का उसके सहज सहयोगी के मध्य विद्यमान हमारे विचार या कल्पना में अवस्थित सामान्य संसर्ग के रूप में होता है और यही भावना हमारे आलोच्य विचार का मूल एवं आधार है। और चूंकि यह भावना एक नहीं वरन् अनेक निदर्शनों के आधार पर बनती है यह अवश्य ही ऐसी स्थिति में उत्पन्न होती है जहां निदर्शनों की समष्टि व्यष्टि से भिन्न रहती है। और यह समष्टिगत भेद इसी अंश में रहता है कि वह सहज संसर्ग को बोध कराकर हमारी कल्पनाशक्ति को दृष्ट के बल अदृष्ट की अनुमिति करा सकता है जो व्यष्टि नहीं कर सकती। शेष अंश में दोनों ही तुल्य होती है। यदि हम हमारे उसी स्फुट उदाहरण का उल्लेख करें तो यह स्मरण होगा कि विलियर्ड की दो गेदों का परस्पर संघर्ष गतिदायक होता है। प्रयोग में आने वाली स्फूर्तियों को किसी भी गति को प्रेरणा देने की भावना से सम्बद्ध न करते हुए हम केवल सर्वकालीन पदार्थगत संसर्ग की अनुभूति पर ही विचार करते हैं और जिस तरह विविध विचारों में बारम्बार पृष्ठ संसर्ग के अनुभव से हम उसे एक से दूसरे पर स्थानान्तरित कर देते हैं उसी प्रकार बाह्य पदार्थों का आन्तरिक प्रेरणा से जो जन्यजनक भाव है उसमें भी पूर्वोक्त सम्बन्ध से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

आठवां परिच्छेद

स्वातन्त्र्य एवं अपेक्षा

यह तो प्रत्याशित अवश्य ही है कि विज्ञान तथा दर्शन के प्रादुर्भाव के साथ-साथ उपस्थित तथा परम उत्सुकता से बहुधा विवाद के विषय प्रश्नों के सम्बन्ध में कम से कम सामान्यतः व्यवहृत पदावली का वाच्यार्थ तो वादी-प्रतिवादी के बीच निश्चित रूप से स्थिर हो जाय और लगभग दो हजार वर्ष के दौरान में प्रस्तुत हमारे विमर्श अब तो शाब्दिक परिधि से आगे बढ़कर विवाद के वास्तविक विषय पर केन्द्रित हो जाय। कारण, कितना सरल यह प्रतीत होता होगा कि तर्क के विषय से सम्बन्ध रखने वाले पदों की सही-सही परिभाषा दी जाय और उनकी व्याख्या ऐसी की जाय जो केवल शब्द-ध्वनि ही न हो परन्तु भविष्य में की जाने वाली छान-बीन तथा सूक्ष्म परीक्षा का विषय भी बन सके ? परन्तु यदि हम इसे सूक्ष्म-दृष्टि से देखें तो सम्भवतः बिलकुल ही विपरीत निर्णय पर पहुंचेंगे। केवल इसी बात से कि इस सम्बन्ध में इतने सुदीर्घ काल से मतभेद प्रचलित है और सर्वमान्य कोई भी निर्णय नहीं हो पाया, हम यह मान ही सकते हैं कि कहीं पद से पदार्थ के बोध होने में अभी भी संशयात्मकता विद्यमान है तथा वाद प्रस्तुत करने वाले तार्किकों में प्रचलित पदावली से विभिन्न अर्थ ग्रहण करने की प्रथा आज भी देखी जाती है। कारण, हर व्यक्ति में बौद्धिक शक्ति निसर्गतः समान ही मानी जाती है, अन्यथा वाद या तर्क में उतरना नितान्त व्यर्थ सिद्ध होगा। साथ ही साथ यह भी असम्भाव्य है कि यदि वादग्रस्त विषय की पदावली में मतभेद न रखते हुए भी तार्किक लोग एक ही विषय पर विभिन्न मत को रखते रहें, विशेषकर उस अवस्था में जब कि वे अपने-अपने मत को प्रकट करते हैं तो हर पक्ष सर्वतः घूम-फिर कर ऐसे तर्क का अन्वेषण करता रहता है कि जिसके बल से वह अपने प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करा सके। हाँ, यह

तो कहीं सच हो सकता है कि वे किसी ऐसे विषय में उतर जायं जो सर्वथा मानव बुद्धि से परे हैं, जैसे जगदुत्पत्ति अथवा बौद्धिक पद्धति या अन्य आध्यात्मिक क्षेत्र में उतर आने पर तो उनका प्रयत्न मोघ सिद्ध हो और वे कभी भी किसी निश्चित निगमन पर कहीं पहुँच न सकें। किन्तु जब उनके वाद-विवाद का विषय कोई सामान्य जीवन अथवा अनुभव से सम्बन्ध रखने वाला हो तब तो उनका वाद इतने दिन चल ही नहीं सकता यदि उनके वह अनेकार्थक न हों जिनके कारण वादी प्रतिवादी अब भी कोसों दूर ही रहें और अपने प्रतिपक्षी को कुण्ठित कर देने में असमर्थ ही रहें।

६३. स्वातन्त्र्य तथा अपेक्षा सम्बन्धी प्रस्तुत प्रश्न की यही स्थिति रही है कि वह चिरकाल से वादग्रस्त ही बना रहा, और यदि मैं गलती न करता हूँ तो यह भी कहा जा सकता है कि यह शोचनीय स्थिति इतनी सीमा तक पहुँच गयी कि समस्त मानव जाति, चाहे पठित या अपठित, सदा इस सम्बन्ध में एकमत ही रहे। साथ ही साथ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि पदों की कतिपय सुबोध परिभाषाएं उपलब्ध हो जातीं, तो सम्पूर्ण विवाद कभी का समाप्त हो गया होता। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि उक्त विवाद अनेक व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया गया और इसने विचारकों को दुर्बोध विमर्श के चक्रव्यूह में ऐसा डाला कि आश्चर्य नहीं कि समझदार पाठक ऐसे प्रश्न के विचार पर मन लगाना भी पसन्द न करें, जिसमें न मनोरंजन हो और न शिक्षा मिले। तथापि प्रस्तुत वाद की वर्तमान स्थिति सम्भवतः पाठक के ध्यान को पुनः आकर्षित करे, कारण इसमें कुछ नूतनता है और वाद को तात्त्विक निर्णय पर ले जाने की आशा है, कम से कम यह विचारधारा किसी पेचीदे अथवा अगम्य तर्क को उपस्थित कर पाठक को अधिक कष्ट न देगी।

६४. इस लक्ष्य को रखते हुए मैं आशा करता हूँ कि यह स्पष्ट हो जाय कि समस्त मानवों ने अपेक्षा तथा स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त पर किसी हद तक एक मत स्थिर कर दिया है जहाँ तक इन वादों का स्वाभाविक अर्थ का सम्बन्ध है। फलतः सारा विवाद केवल शब्दध्वनि ही रह गया है। अतएव हम अपेक्षा के सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यह

सर्वानुमति से स्वीकृत है कि समस्त द्रव्य अपनी सर्वविध क्रियाओं में किसी आवश्यक शक्ति प्रेरित हो प्रवृत्त होता है और प्रत्येक सहज परिणाम अपने कारण की प्रेरणाशक्ति से इतना सुसिद्ध है कि उस परिस्थिति विशेष में उक्त कारण से तद्वितर अन्य कोई भी परिणाम निकल ही नहीं सकता। प्राकृतिक नियमों द्वारा प्रत्येक गति की दिशा एवं मात्रा इतनी सुनिश्चित है कि कोई भी प्राणी दो वस्तुओं के आघात से गति के साथ ही साथ उतनी ही मात्रा एवं दिशा में चल पड़ेगा जितना किसी अन्य कारण से उत्पादित गति की मात्रा अथवा दिशा से प्रेरित होने पर वह प्राणी गतिमान होगा। इस आधार पर क्या हम अब आवश्यकता या अपेक्षा के भाव की ठीक-ठीक कल्पना करने को उद्यत हो सकते हैं? हमें निश्चय उस निमित्त की गवेषणा करनी चाहिए जहाँ से वस्तुओं की क्रियात्मकता के सम्बन्ध में प्रयोगात्मक रूप से कल्पना अत्यन्त होती है।

इस से यह स्पष्ट है कि नैसर्गिक दृश्य सदा इस तरह उपस्थित होते रहें जिसमें कोई दो द्रव्य स्वरूप अथवा तुल्यरूप न होकर सर्वथा अभिन्न प्रतीत हों तो सुसदृशता के अनुभव कदापि न होने पर हमें सापेक्षता की भावना अथवा दो द्रव्यों में परस्पर निर्भरता का बोध कभी न होने पाता। इस मान्यता के आधार पर हम इतना ही तो कह सकते हैं कि एक वस्तु अथवा घटना अन्य की अनुगामिनी है, परन्तु यह तो नहीं कह सकते कि एक दूसरे की जननी है। तब तो कार्यकारण भाव मानव जाति को कभी ज्ञात न होता। और तत्काल ही प्राकृतिक सहज क्रियाओं के सम्बन्ध में अनुमान अथवा तर्क कभी का समाप्त हो जाता, कारण मानव के पास स्मृति एवं चेतना ये ही तो स्रोत हैं जिससे मन को किसी भी वस्तु की तात्त्विक स्थिति का बोध होता है। अतएव सापेक्षता तथा कारणता की कल्पना हमें तुल्यरूप में सर्वदा प्रकट होने वाली प्राकृतिक क्रियाओं से ही होती है जब कि सुसदृश पदार्थ सदा एकानुगत दीख पड़ते हैं और अभ्यासवश हमारा मन एक के प्रत्यक्ष होने पर दूसरे का तुरन्त अनुमान कर लेता है। द्रव्यगत सापेक्षता के पूर्ण स्वरूप का आधार ये ही दो स्थितियाँ हैं। तुल्यरूप दो वस्तुओं का सन्तत सामानाधिकरण्य

तथा तज्जनित अत्यन्तर के प्रत्यक्ष से तदितर के अनुमान की सहज प्रवृत्ति के अतिरिक्त हमें सापेक्षता अथवा परस्पर सम्बन्ध के अस्तित्व की कोई कल्पना नहीं।

इस तर्क से यदि ऐसा प्रतीत हो जाय कि मानव ने बिना किसी आशंका या संकोच किये यह स्वीकृत कर लिया है कि ये दो स्थितियाँ उसके सहज व्यापार एवं मनोवृत्ति में उपस्थित होती रहती हैं तो यह सिद्ध ही है कि मानव जाति ने सापेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकृत कर लिया है तथा अद्यावधि इस विवाद में वह एक दूसरे को न समझने के कारण ही उलझा रहा। सुसदृश घटनाओं के सतत् एवं सदा सहभावी योग के सम्बन्ध में हम सम्भवतः निम्नलिखित विचार प्रकट कर सन्तुष्ट हो सकते हैं :

६५. यह सर्वसम्मत है कि हर जाति एवं युग के मानवों की क्रियाओं में अत्यधिक एकरूपता है, और मानव स्वभाव यद्यपि सिद्धान्तों एवं क्रियाओं में वैसा ही है। वे प्रेरणाएँ आज भी वैसी ही क्रिया को जन्म देती हैं, और वे घटनाएँ उन्हीं कारणों से उत्पन्न होती हैं। महत्वाकांक्षा, लाभ आत्माभिमान, अहंकार, मित्रता, औदार्य, सार्वजनिक प्रेम आदि भाव विभिन्न मात्राओं के अनुपात से समाज में प्रसूत विश्वसृष्टि के प्रारम्भ से आज तक मानव वर्ग में पाये जाते हैं जो विविध क्रिया एवं प्रतिक्रिया तथा उद्यम एवं साहस को प्रेरणा देते रहते हैं। तथा आप जानना चाहेंगे कि ग्रीक तथा रोमन मानवों के भाव, मनोवृत्ति और जीवन-क्रम कैसा था ? फ्रांसीसी तथा अंग्रेजों की प्रकृति तथा क्रियाओं का अध्ययन कीजिये ? और आप एक वर्ग में उपलब्ध वस्तुओं को दूसरी जाति की जनता पर प्रकल्पित करने में कोई बड़ी भूल न करेंगे। मानव जाति निसर्गतः इतनी सुसदृश है—सर्वत्र एवं सर्वदा—कि इतिहास हमें इस सम्बन्ध में कुछ भी नवीन अथवा अद्भुत नहीं बतला पाता। इतिहास का मुख्य लाभ इतना ही है कि वह मानव निसर्ग के शाश्वत तथा सर्व साधारण तत्वों को प्रकट कर दे, मानवों को विभिन्न परिस्थिति तथा दशाओं में चित्रित कर दे और हमारे समक्ष उन सब वस्तुओं को रख दे जिनसे हम अपना तर्क स्वयं कर लें तथा मानव क्रियाओं तथा व्यवहारों के सतत्

स्रोतों से परिचित हो लें। युद्ध, कूट प्रयोग, दलबन्दी तथा क्रान्ति के ये इतिहास विविध प्रयोगों के संग्रह मात्र हैं जिनके आधार पर राजनीतिज्ञ तथा आचारज्ञ अपने-अपने विज्ञान के मूलसिद्धान्त स्थिर करते हैं। ठीक उसी तरह जैसे कोई वैद्य तथा प्रकृति विज्ञाता अपने-अपने प्रयोगात्मक अनुभवों के बल पर पेड़, पोहर, खनिज द्रव्यों अथवा अन्य भौतिक पदार्थों से परिचित होते हैं। जिस तरह आजकल हम देखते हैं कि ठीक उसी तरह अरस्तू और हिप्पोक्रेटीज ने पृथ्वी, जल आदि तत्व देखे थे और मानव तब भी वैसे ही थे जब पोलिबस तथा टेसीरस ने वर्णन किया था और जैसे आज के जननायकों को वे दीख पड़ते हैं।

यदि कोई यात्री दूर विदेश से लौट कर हमें वहाँ की ऐसी जनता का वर्णन बताये जहाँ के मानव हमारे परिचित अन्य मानवों से अत्यन्त भिन्न हों, जिनमें न लोभ, न प्रतिकार अथवा न महत्वाकांक्षा की भावना हो, जिन्हें मित्रता, उदारता तथा सर्वोदय के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सुख की कल्पना ही न हो तो हम तुरन्त ऐसे बयान से उसकी असत्यता को पहिचान लेंगे और उसे एकदम झूठा समझकर यही निर्णय करेंगे कि वह हमें भूत-प्रेत, बैताल आदि की कहानी कह रहा है। और हम इतिहास का मिथ्यात्व भी प्रकट करना चाहेंगे और इस वर्णन से हमें किसी अन्य निर्देशन की अपेक्षा अन्य किसी उदाहरण यह प्रमाणित करने को न होगा कि ऐसे गुणों का अस्तित्व कहीं भी मानव प्रकृति के विरुद्ध है और मानव किसी भी उद्देश्य से प्रेरित हो इस प्रकार का आचरण नहीं कर सकता। क्विन्टियस करटियस की प्रामाणिकता में भी हमें उतना ही सन्देह होता है जब वह सिकन्दर का अतिमानव साहस वर्णन करता है जिसके बल वह अकेला सहस्रों का सामना करता अथवा सहस्रों के आक्रमण को अकेला ही रोक लेता था। कारण यह है कि हम सहज ही सर्वत्र मानव की शारीरिक क्षमता अथवा उद्देश्यों की समानता स्वीकृत करने को उद्यत होते हैं।

६६. यही लाभ हमें दीर्घ जीवन तथा विभिन्न व्यवसाय एवं सहवास द्वारा प्राप्त होता है जिससे हम मानव प्रकृति के मूलतत्त्वों का अध्ययन कर पाते हैं और हमारी विचारधारा तथा भावी व्यवहार को नियमित

करते हैं। इस निर्देशन के द्वारा हम मानव की अभिरुचि एवं प्रवृत्तियों का ज्ञान कर पाते हैं और उसके कृत्यों, अनुभवों तथा इंगितों से हम उसकी चेष्टाओं का तात्पर्य ग्रहण करते हैं जिसका मूल आधार हमारी स्वयं की रुचि एवं प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। सुदीर्घकाल से प्राप्त हमारी अनुभव परम्परा से उपलब्ध सर्वसाधारण पर्यवेक्षण ही हमें मानव प्रकृति का संकेत प्रदान करता है और उसकी गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होता है। ऊपरी दिखावे और बहाने हमें धोखा नहीं दे सकते। जन सामान्य की घोषणाएं किसी भी लक्ष्य का स्वरूप विशेष हैं—यह हमें प्रतीत हो जाता है। यद्यपि सद्गुण एवं सम्मान अपने-अपने स्थान पर अपना महत्व एवं अधिकार अवश्य क्यों न रखते हों तथापि ऊपर दिखाये जाने वाला एकान्त विराग अधिकांश जनसमूह में अथवा दलों में पाया नहीं जाता, विशेषकर उनके नेताओं तथा किसी भी स्तर के व्यक्तियों में और भी कम। यदि यह कहा जाय कि मानव की चेष्टाओं में एकरूपता न हो और हमारा प्रत्येक पर्यवेक्षण अथवा प्रयोग अनियमित तथा विधि विरुद्ध है तो चूंकि समस्त मानव जाति का सर्वसामान्य निरीक्षण असम्भाव्य है हमारा कोई भी अनुभव चाहे कितने ही सूक्ष्म विचार एवं विवेचन पर आधारित क्यों न हो सही निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा। यदि यह पूछा जाय कि एक वृद्ध किसान क्यों कर कृषि कर्म में नवयुवक की अपेक्षा अधिक चतुर होता है तो यही मानना होगा कि सूर्य, वरुण एवं पृथ्वी की गति-विधि का परिणाम शस्योत्पत्ति पर सदा एकरूप होता है और अनुभव ने वृद्ध व्यवसायी को इन नैसर्गिक नियमों से अधिक परिचित बना दिया है।

तथापि हमें मानवीय चेष्टाओं की एकरूपता के नियम को सार्वत्रिक नहीं मान लेना चाहिए, हमें यह नहीं समझना चाहिए कि सत् पुरुष समान स्थितियों में ठीक-ठीक एक-सी ही चेष्टा करते रहेंगे। कारण व्यक्तिगत चरित्र, पूर्व ग्रहों तथा अभिरुचियों की विभिन्नता के लिये भी अनुरूप अवकाश देना चाहिए। प्रत्येक अंश में पूर्ण एकरूपता तो हमें प्रकृति के किसी भी भाग में उपलब्ध नहीं होती। प्रत्युत् विभिन्न व्यक्तियों की चेष्टाओं में बहुरूपता को देखते हमें पृथक्-पृथक् नियमों का

भाव उत्पन्न करना पड़ता है, जो किसी मात्रा में अवश्य नियमितता तथा स्वरूपता को धारण किये रहते हैं ।

क्या कहीं विभिन्न वय के, विभिन्न युग के अथवा विभिन्न देश के मानवों का रहन-सहन एकरूप होता है? । नहीं । इस निरीक्षण से हम यह जान पाते हैं कि रूढ़ियों की तथा शिक्षा की कितनी शक्ति है जो मानव मस्तिष्क को शैशव से ही प्रभावित कर एक स्थिर सुसम्पन्न चरित्र के रूप में गठित कर देती है । क्या भिन्न लिंग के मानवों का चरित्र एवं व्यवहार अन्य से पृथक् रूप रहता है ? क्या हम उस आधार पर विभिन्न प्रकृतियों से परिचित हो सकते हैं जिन्हें निसर्ग ने विभिन्न लिंग के मानवों को अंकित किया है और जो सदा, सर्वत्र स्थिर रूप में प्रकट होता रहता है ? क्या एक ही व्यक्ति की चेष्टाएं जीवन के विभिन्न भागों में—शैशव से वार्धक्य तक—पृथक् रूप होती है ? । यदि ऐसा होता है तो हम इन पृथक्-ताओं को देख अपने रश्मिभेद तथा भावनाओं के परिवर्तनों के सामान्य निरीक्षण की मानव प्राणियों में विभिन्न वयोवस्था में प्रवर्तमान मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् सिद्धांत बना सकते हैं । चरित्रगत वे विशेषताएं, जो प्रत्येक व्यक्ति की निजी होती है अपने प्रभाव में सदा एकरूपता प्रकट करती हैं, यदि ऐसा न हो तो हमारा किसी भी व्यक्ति से कितना ही निकट परिचय क्यों न हो, और हमें उसके चरित्र के निरीक्षण करने के कितने ही अवसर क्यों न प्राप्त हुए हों, हम उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में कदापि अपना अभिप्रायः निर्धारित न कर सकेंगे और उसके साथ हमारी व्यवहारनीति भी निश्चित न कर सकेंगे ।

यह मैं मानता हूँ कि कतिपय मानव चेष्टाएं ऐसी हो सकती हैं जिनका विदित उद्देश्यों से कोई सिद्ध सम्बन्ध न हो और जो मानव प्रकृति के परिगृहीत नियमों के अनुरूप व्यवहार के अपवाद रूप हों, परन्तु यदि हम जान लें कि इन अनियमित तथा असाधारण चेष्टाओं का स्वरूप निर्णय कैसे करना चाहिए तो प्रकृति के प्रवाह में अनियमित घटनाओं और बाह्य वस्तु की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में हमारी भावनाओं का भी हमें विचार कर लेना चाहिए । क्योंकि सब कारण अपने कार्य के साथ

सर्वदा सदृश एकरूपता को लिये नहीं होते । एक कर्मकार जो निर्जीव पदार्थ पर काम करता है अपने लक्ष्य के साधन में कहीं निराश हो सकता है जैसे एक कूटनीतिज्ञ सचेतन एवं प्रज्ञार्शील अपने दूतों को क्रिया निर्देशन करते हुए अपने ध्येय में असफल हो सकता है ।

६७. एक अबोध व्यक्ति हर वस्तु के उसके बाह्य स्वरूप को लेकर घटनाओं (परिणामों) की अनिश्चितता को सदा कारणों की अनिश्चितता मान लेता है मानो किसी व्यवधान के न होते हुए भी कारण का अनेक सामान्य कार्य पर कोई प्रभाव ही न रहा हो । परन्तु दार्शनिक तो निसर्ग के प्रत्येक अंश में विभिन्न स्त्रोतों तथा सिद्धान्तों को देखता है जो अपनी सूक्ष्मता तथा दूरस्थता के कारण तिरोहित से रहते हैं और वह इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि कारण से विरूप कार्य की उत्पत्ति कारणगत दोष के कारण नहीं होती वरन् विरोधी कारणों की सत्ता के कारण है । और यह उसका निर्णय अधिकाधिक निरीक्षण द्वारा दृढ़ बन जाता है और सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् दार्शनिक कह उठता है कि कार्यगत विरूपता कारणगत अननुरूपता को प्रकट करती है और पारस्परिक विरोध से उद्भूत होती है । एक हालिक अपनी घड़ी या घण्टा के बन्द हो जाने का “यह ठीक नहीं चलती” इसके सिवा दूसरा कारण नहीं बता सकता, परन्तु एक घड़ीसाज आसानी से यह समझता है कि बालकमानी अथवा लोलक का सदा घटीचक्र पर एक-सा ही असर होता है तथापि घड़ी के बन्द हो जाने का कारण संभवतः कोई रजःकण हो जिसकी स्थिति ने यन्त्र में गतिरोध उत्पन्न कर दिया है । सुसदृश अथवा समानान्तर अनेक निदर्शनों के निरीक्षण से दार्शनिक इस सिद्धान्त को दृढ़ कर लेता है कि कार्य और कारण में सम्बन्ध विशेष ध्रुव है और क्वचित् आपाततः दृश्यमान विरूपता कहीं विरोधी अथवा बाधक हेतु द्वारा विहित अविज्ञात प्रतिरोध का फल है ।

उदाहरणार्थ—मानव शरीर में जब कहीं स्वास्थ्य अथवा रोग के लक्षण प्रत्याशित स्वरूप ग्रहण करते हैं, जब औषधियाँ अपना प्रभाव नहीं करती अथवा जब कोई भी हेतु निसर्गविरुद्ध परिणाम प्रकट करता है तो वैद्य और दार्शनिक चकित नहीं होते और मानव-शरीर सम्बन्धी

सामान्य सिद्धान्तों की सत्यता तथा एकरूपता का प्रतिक्षेप करने के लिए वे उद्यत नहीं होते। वे समझते हैं कि मानवशरीर अत्यन्त सूक्ष्म एवं विनष्ट यन्त्र है और उसमें अनेक गुप्त शक्तियाँ अपना-अपना काम करती रहती हैं जिनका बोध हमें सहज नहीं होता : उस यंत्र की गति कई बार हमें अनियमित-सी लगती है। अतएव घटनाओं की विरूपता अपने बाहरी स्वरूप मात्र से यह कदापि प्रमाणित नहीं करती कि प्राकृतिक नियम आभ्यन्तर क्रिया तथा यन्त्रचालन में नियत रूप से सक्रिय नहीं रहते।

६८. उसी तरह एक तर्कशील दार्शनिक सचेतन प्राणियों की चेष्टाओं तथा इच्छाओं के सम्बन्ध में वही तर्क प्रस्तुत करता है। मानवों के आशातीत मानसिक निश्चय का कारण वे ही प्रकट कर सकते हैं जो परिस्थिति तथा व्यक्तिगत स्वभाव से भलीभाँति परिचित हों। एक परोपकारी उदार व्यक्ति किसी समय प्रतीप प्रत्युत्तर दे बैठता है—सम्भवतः वह क्षुधार्त हो अथवा दन्तरोग से पीड़ित। एक जड़ व्यक्ति उसके व्यवहार में असाधारण उग्रता का अनुभव करे, परन्तु उसे सहसा सौभाग्य की प्राप्ति हुई है। कभी-कभी तो किसी घटना का कारण बताया ही नहीं जा सकता, न उसे कर्ता ही जान पाता और न उसके सहवासी। हम जानते हैं कि सामान्यतः मनुष्य का स्वभाव कुछ अंश तक परिवर्तनशील एवं बहुरूप होता है। मनुष्य के स्वभाव की यही तो सर्व-सामान्य विशेषता है—यद्यपि यह चंचलता विशेष रूप से उस व्यक्ति में दीख पड़ती है जिसके व्यवहार की पद्धति अनियमित है तथापि थोड़ी या अधिक मात्रा में अस्थिरता एवं मनमानापन तो हर मानव के स्वभाव में रहता ही है। आभ्यन्तर उद्देश्य एवं निसर्ग के नियम तथापि एकरूपता से काम करते हैं चाहे ऊपर-ऊपर कितनी अनियमितता क्यों न दीखती हो—ठीक उसी तरह जैसे वायु, संघर्जन्य तथा ऋतु के विविध परिणाम किसी स्थिर सिद्धान्त से अनुशासित होते हैं जो भी उनका सूक्ष्म कारण मानव-ज्ञा तथा गवेषणा से सहसा आकलित न हो पाये।

६९ उपर्युक्त सन्दर्भ से यह प्रतीत होता है कि न केवल मानव की स्वेच्छा प्रेरित चेष्टाएँ तथा उद्देश्यों का परस्पर सम्बन्ध निसर्ग के हर रूप की

भाँति कार्यकारण भाव के तुल्य है अपितु यह नियत सम्बन्ध मानव जाति में सर्वत्र स्वीकृत है और यह दार्शनिक विचार में अथवा सामान्य जीवन में कभी भी विवाद का विषय न हुआ।

अब हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि हम पूर्वानुभव के बल पर सदा भविष्य की स्थिति का अनुमान करते हैं तथा यह भी निश्चित करते हैं कि दो वस्तुएँ अथवा घटनाएँ सदा वैसी ही परस्पर सम्बद्ध रहेंगी जैसी रही हैं—यह अब सिद्ध करना एक निरर्थक प्रयास होगा कि मानवीय चेष्टाओं की सुलक्षित एकरूपता तत्सम्बन्धी भावी अनुमान की आधार-शिला है। तथापि इस सिद्धांत के विविध पहलुओं पर और आलोक डालने के लिए हम इस विषय पर संक्षेप में कुछ अधिक आलोचना प्रस्तुत करते हैं—

सकल समाज में मानवों की परस्पर निर्भरता इतनी अधिक है कि उनकी कोई भी क्रिया स्वयं परिपूर्ण नहीं रहती अथवा अन्य किसी की क्रिया से असम्बद्ध नहीं होती जो कि कर्ता की भावना को स्पष्ट करने के लिए परमावश्यक प्रतीत होती है। साधारण से साधारण कर्मठ चाहे वह अकेला ही अपना व्यवसाय करता हो, न्यायाधीश की सहायता की अपेक्षा करता है ताकि वह अपने श्रम का फल अविच्छिन्न रूप से पा सके। वह यह भी आशा करता है कि अपने उत्पादित द्रव्य को बाजार में रखने पर तथा उचित मूल्य पर बेचने को उद्यत होने पर उसे ग्राहक प्राप्त होंगे और विनिमय से प्राप्त द्रव्य के बल वह अपनी जीवन सामग्री को उपलब्ध कर सकेगा। ज्यों-ज्यों मानव अपने व्यापार को बढ़ाता है और जनता से अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित करता है, वह अपने जीवन की योजनाओं में अधिकाधिक मनोनीत कामों की धारणा बनाता है और आशा करता है कि अपने उद्देश्य तथा व्यापार में सामंजस्य सदा बना रहेगा। ऐसे समस्त निर्णयों में मानव अपने पूर्वानुभवों से उतना ही प्रेरित होता है जितना वाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में वह तर्क से प्रेरित होता है। साथ ही साथ वह यह भी दृढ़ विश्वास बनाये रखता है कि मानव तथा भौतिक तत्त्व सदा पूर्ववत् आचरण करते रहेंगे। एक उत्पादक अपने कर्मचारियों के श्रम पर वस्तु निष्पादन में उतना ही भरोसा रखता है जितना वह अपने

औजारों पर और विफलता देख वह दोनों जगह एक-सा ही निराश होता है । संक्षेपतः अनुभव पर आधारित अनुमान तथा अन्य की क्रियाओं के सम्बन्ध में तर्क मानव जीवन में इतने ओत-प्रोत हैं कि कोई भी मानव जागृत दशा में प्रतिक्षण उनका प्रयोग किये बिना रह नहीं सकता । तो फिर क्या हम यह दृढ़ता के साथ नहीं कह सकते कि समस्त मानव जाति ने पूर्वोक्त परिभाषा तथा तात्पर्य को प्रकट करने वाले 'सापेक्षता' के सिद्धांत को एकमत्य से तथा सर्वात्मता से स्वीकृत कर रखा है ?

इस सम्बन्ध में दार्शनिकों ने भी जनसामान्य के मत से पृथक् मत नहीं रखा । कारण, वे भी अपनी विचार प्रणाली में उसी सिद्धांत को अपनाते हैं तथा उनके अध्ययन क्रम में शायद ही कोई ऐसा विचार होगा जिसमें उक्त सिद्धान्त अपरिहेय न माना जाय । इतिहास का क्या होगा यदि मानव जाति के सम्बन्ध में पूर्वानुभूति पर आधारित इतिहासकार की सत्यता को हम स्वीकार करने को उद्यत न हों ? राजशास्त्र विज्ञान कैसे माना जा सकेगा यदि प्रशासन के नियम तथा प्रकार सदा समाज पर एकरूप प्रभाव न रखते हों ? समस्त सदाचार का क्या आधार रहेगा यदि खास-खास प्रवृत्तियाँ भावना विशेषों को उत्पन्न करने की एकरूप शक्ति न रखती हों अथवा मनोभावों में चेष्टाओं को अनुप्रेरित करने की शक्ति न हो ? और हमें किसी भी कवि की रचना पर आलोचना का क्या अधिकार होगा यदि उसके पात्रों के चरित्र तथा रसाभिव्यक्ति पर हम यह समीक्षा करें कि उस स्थिति में वह स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक चित्रण या अभिनय है । अतएव 'सापेक्षता' के सिद्धांत को स्वीकार किये बिना किसी भी विज्ञान अथवा कला का काम नहीं चल सकता और न उद्देश्य वा क्रिया से अथवा चरित्र का व्यवहार से परस्पर अनुमान ही सम्भव होगा । और सचमुच, जब हम यह देखने लगते हैं कि नैसर्गिक तथा नैतिक वस्तु कितनी भलीभाँति परस्पर सम्बद्ध हैं और तर्क की सुगठित शृंखला प्रस्तुत करती है तो हमें यह कहते तनिक भी संकोच नहीं होता कि वे वास्तव में एक ही जैसे हैं और एक ही सिद्धान्त पर आश्रित हैं । जब कोई निराश्रय बन्दी अपने छुटकारे के विषय में निराश हो जाता है और जब वह कारागृहाध्यक्ष की निष्ठुरता को उतनी ही कड़ी पाता है जितनी

कि आसपास की दीवारों तथा लोहे की सरियों को, तो वह अपने छुटकारे के लिए लोहे और पत्थर के विरुद्ध चेष्टा करने की सोचता है न कि अध्यक्ष के अपरिवर्तनीय स्वभाव के विरुद्ध। वही बन्दी जब बध्यशिला पर आरुढ़ किया जाता है और अपनी निकटस्थ मृत्यु की प्रतीक्षा में होता है जब मृत्यु की अवश्यम्भाविता अपने रक्षियों की कर्तव्य-परायणता तथा अविचलता के कारण उतनी ही निश्चित मानता है जितनी कि मृत्युचक्र अथवा बधिक के फरसे पर। उसका मस्तिष्क किसी विचारधारा के साथ दौड़ता है : रक्षियों का उसके पलायन में अनुमति, बधिक का हत्या व्यापार, मुण्ड का रुण्ड से पृग्भाव, रक्तश्राव, मूर्छा एवं यहां नैसर्गिक हेतुमाला और स्वच्छन्द व्यापार की लगातार शृंखला-सी मिलती है, परन्तु मस्तिष्क को एक कड़ी से दूसरी कड़ी की ओर आगे बढ़ने में किसी अन्तर का अनुभव नहीं होता। किसी तरह भविष्य की घटना के सम्बन्ध में अनिश्चितता भी प्रतीत नहीं होती मानों वर्तमान का अतीत की स्मृति अथवा प्रत्यक्ष से निकट सम्बन्ध ही हो। और निश्चय किसी हेतु शृंखला से ही होता है जिसे हम 'स्वरूपगत सापेक्षता' मानते हैं। वही पूर्वानुभूत कारण परम्परा उसी कार्य को जन्म देती है और ठीक वैसा ही प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर करती है चाहे कारण की शृंखला उद्देश्यों, इच्छाओं अथवा चेष्टाओं से गठित क्यों न हुई हो अथवा किसी आकृति अथवा गतिविशेष से। हम चाहें वस्तु का नामकरण पृथक् कर दें परन्तु उसकी प्रकृति एवं प्रतिक्रिया हमारी समझ पर भिन्न प्रभाव नहीं डालती।

७०. एक मेरा मित्र जिसे मैं धनी एवं ईमानदार मानता हूँ और जिसके साथ मेरी घनिष्ट मित्रता है मेरे घर आता है और मेरे आसपास मेरे अनेक परिचायक वर्तमान है तो मैं यह कभी नहीं सोच पाता कि वह घर से बाहर जाने से पूर्व मेरे चांदी के सामान को चुरा ले जाने की नियत से मुझ पर छुरा चलायेगा। मुझे ऐसी आशंका ठीक वैसे ही नहीं होती जैसे मेरे नवनिर्मित सुदृढ़ घर के गिर जाने की नहीं होती। तथापि हो सकता है कि मेरे अतिथि को यकायक और अभूतपूर्व उन्माद हो गया हो—अथवा यकायक कहीं भूचाल आ जाय और मेरा घर डोल उठे और मेरे कानों के पास आ गिरे। इस कारण मैं मेरी मान्यताओं में परिवर्तन कर सकता

हूँ। मैं यही कहूँगा कि वह आग की ज्वाला की ओर अपना हाथ न बढ़ायेगा अथवा जल जाने तक वहाँ से उसे न हटायेगा और इस बात को मैं विश्वास-पूर्वक पहिले-सी कह सकता हूँ जैसे यह कह सकता हूँ कि यदि वह खिड़की से अपने आप को गिरा ले और मध्य में उसे कोई सहारा न मिले तो वह आकाश में क्षण भर में भी स्थगित न रह सकेगा। किसी भी अविज्ञात उन्माद की आशंका पूर्वोक्त घटना की शक्यता का ज्ञान करा सकती है जो वास्तव में मानवीय निसर्ग के सुविदित नियमों के इतनी प्रतिकूल हो। मध्याह्न में चेरिंग क्रॉस के मार्ग पर सोने की मोहरों से भरी थैली को भूल जाने पर कोई भी व्यक्ति यह भी मान सकता है कि पंख की तरह हवा हो जायगी अथवा वह भी मान सकता है कि घंटे भर बाद भी वह वही रखी होगी। आधे से अधिक मानव के तर्क इसी प्रकार के अनुभवों, अनुमानों से सम्बद्ध हैं जिसमें परिस्थिति विशेष में वर्तमान मानवों के साधारण व्यवहार के अनुभवों पर आधारित कम या ज्यादा निश्चितता पायी जाती है।

७१. मैंने यह कई बार सोचा कि कौनसी ऐसी वजह है कि मानववृन्द ने जब कभी प्रसंग आया तो निस्संकोच सापेक्षता सिद्धान्त के तर्क एवं प्रयोग में अस्तित्व को स्वीकृत किया है तथापि यह पाया कि उसे शब्दों में स्वीकृत करने में सदा अनिच्छा ही प्रकट की है इतना ही नहीं वरन् उसके विपरीत अपना मत प्रकाशित करने की मानव जाति में प्रेरणा है। मेरी समझ में तो इसका हेतु इस प्रकार का है—यदि मानवशरीर की क्रियाओं को तथा उनके कारणजन्य परिणामों का परीक्षण करें तो हमें पता चलता है कि हमारी ज्ञानशक्ति हमें इससे अधिक नहीं बताती कि वस्तुविशेष परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं और पूर्वानुभव की परम्परा से हम एक के अस्तित्व पर दूसरे की सम्भाव्यता का अनुमान मनोव्यापार द्वारा करते रहते हैं। यद्यपि मानव की इस अज्ञता के विषय में निर्णय प्रस्तुत विषय के सूक्ष्म विवेचन का परिणाम क्यों न हो, मानव निसर्ग में यह सहज प्रवणता पायी जाती है कि वह प्रकृतिशक्ति को अधिकाधिक समझना चाहता है और कार्यकारण के बीच एक प्रकार का सापेक्ष सम्बन्ध अनुभव करता है। और आगे चलकर जब वह अपनी चित्तवृत्ति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं

की ओर विचार करने लगता है तो उसके अनुभव में कोई प्रस्फुट सम्बन्ध उद्देश्य एवं कार्य के बीच दिखाई नहीं देता—इस वजह मानव यह मानने लगता है कि भौतिक शक्तियों से उत्पन्न परिणामों में तथा बुद्धि एवं विचार से जन्य परिणामों में कुछ तात्त्विक भेद है। परन्तु जब हमें यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि कारणवाद के सम्बन्ध में इतना ही बस जानते हैं कि दो पदार्थों में सदा सहयोग दीखता है और इसी न्याय के आधार पर हमारा मस्तिष्क एक के होने पर दूसरे के होने का अनुमान करने लगता है तथा हम यह भी पाते हैं कि ये दो तत्व सदा हमारी स्वतंत्र क्रियाओं पर प्रभाव रखते हैं तो हम सहज ही यह विश्वास करने लगते हैं कि वही सापेक्षता समस्त कारणों में रहती होगी। और यद्यपि इच्छाओं के स्वरूप निर्धारण की आवश्यकता को स्वीकार करने में कई दार्शनिकों की पद्धतियों का यह तर्क विरोध करता हो, हम सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् यही पाते हैं कि ऐसा दार्शनिकों का विरोध केवल शान्दिक ही है तात्त्विक नहीं। जिस अर्थ में हम मानते आये हैं उस अर्थ में 'सापेक्षता' को कभी स्वीकार नहीं किया गया और मैं सोचता हूँ किसी दार्शनिक के द्वारा उसको अस्वीकार किया भी नहीं जा सकता। संभवतः इतना चाहे आपाततः प्रतीत क्यों न होता हो कि भौतिक द्रव्यों की क्रिया प्रतिक्रिया में कार्यकारण भाव के अतिरिक्त अन्य कोई गहरा सम्बन्ध हो तथा सचेतन प्राणियों की स्वच्छन्द चेष्टाओं में उस सम्बन्ध को कोई स्थान न हो। वास्तव में यह ठीक है या नहीं—यह तो और अधिक परीक्षण पर ही मालूम हो सकता है और दार्शनिकों पर यह भार है कि वे अपने वाद को सिद्ध करने के लिये सापेक्षता की परिभाषा व नाम अथवा उसके स्वरूप का यथावत् वर्णन करें और भौतिक कारणों की प्रतिक्रियाओं में उसके स्थान को निर्धारित कर हमें दिखावें।

७२. सचमुच ऐसा दिखाई देता है कि मानव 'स्वतंत्रता और सापेक्षता,' के प्रश्न को गलत सिरे से उठाता है जब वह आत्मिक शक्तियों का परीक्षण कर बुद्धि के प्रभाव तथा इच्छा की प्रेरणाओं को समझने की चेष्टा करता है। इससे पूर्व मानव को इससे अधिक सरल प्रश्न पर विवेचन करना चाहिए—जैसे—शरीर की क्रिया तथा अचेतन या पाशविक जड़ता

वाले पदार्थ, और यह यत्न करना चाहिए कि वहां कारणभाव और सापेक्षता कहाँ है सिवाय इसके कि दो पदार्थों में सार्वकालिक सहयोग है जिसके आधार पर एक का होना दूसरे के होने को अनुमानित करवाता है। यदि वहाँ ऐसी स्थिति सचमुच पायी जाती है जो सापेक्षता का पूर्णरूप है और यदि मानसिक व्यापार में वैसी स्थिति होना सर्वत्र उपलब्ध है तो फिर यह विवाद समाप्त हो जाता है और यदि रह भी जाता है तो वह केवल शाब्दिक चर्चा मात्र है। परन्तु जब तक हम अविवेक के साथ यही मानते रहते हैं कि वाह्य पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं में कारणवाद एवं सापेक्षता के परे भी कुछ है और साथ ही साथ यह भी मानते रहे कि मानव मनोव्यापार में हम कोई और प्रभावशाली हेतु नहीं देख पाते तो प्रस्तुत प्रश्न को कोई ठीक-ठीक आलोच्य स्वरूप हम नहीं दे पाते और वह तदवस्थ रहेगा तब जब हम गलत धारणाओं को लेकर चलते रहेंगे। आत्मवंचना से बचने के लिए हमें और ऊपर उठना होगा—भौतिक कारणों के सम्बन्ध में प्रयुक्त विज्ञान की संकीर्ण परिधि का परीक्षण करना होगा और हमें इस अंश में निर्भ्रान्त हो जाना चाहिए कि हम इतना ही समझते हैं कि भौतिक पदार्थों में एक अन्वय सम्बन्ध है जो हमारे अनुमान का प्रयोजक है।

हमें ऐसा लगता है कि मानव बुद्धि की इतनी संकीर्ण परिधि निश्चित करने में कठिनाई का अनुभव हो, परन्तु आगे चलकर यह कठिनाई नहीं रह जाती जब हम इस सिद्धान्त का समन्वय मानव की इच्छाओं पर करने लगते हैं। कारण, ज्यों-ज्यों यह स्फुट होता जाता है कि उद्देश्य, परिस्थिति तथा चरित्र विशेष में एक नियत सम्बन्ध है और ज्यों-ज्यों हम एक को देख दूसरी बातों का अनुमान करने लगते हैं तो हमें भी शब्दशः मुक्तकण्ठ स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे जीवन के हर पहलू में हमारे व्यवहार तथा व्यापार के हर सोपान पर 'सापेक्षता' निश्चित रूप से विद्यमान है।^१

१. 'स्वतंत्रता' के सिद्धान्त के प्रचार का एक और भी कारण बताया जा सकता है—हमारी कई चेष्टाओं के सम्बन्ध में स्वतंत्रता

७३. दर्शन एक विवाद पर विज्ञान है और उसमें भी अत्यन्त वादग्रस्त प्रश्न 'स्वच्छन्दता एवं सापेक्षता' का है। परन्तु इन दो पहलुओं का समन्वय थोड़े से शब्दों में किया जा सकता है—समग्र मानव जाति ने सदा दोनों ही को माना है—स्वच्छन्दता तथा सापेक्षता—इन दोनों के सम्बन्ध में विवाद केवल शाब्दिक है—क्योंकि स्वेच्छाकृत चेष्टाओं पर स्वच्छन्दतावाद का प्रयोग किया जाय तो तात्पर्य क्या निकलेगा ? यह तो हमारा स्वच्छन्दता से मतलब नहीं कि मानव चेष्टाओं का उद्देश्य, अभिरुचि तथा परिस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं, अथवा यह नहीं भी कहा जा सकता कि किसी न किसी हद तक वे एक दूसरे पर अवलम्बित नहीं

या उदासीनता की मिथ्या भावना अथवा आपाततः अनुभूति। मानसिक अथवा वस्तुलक्षी किसी भी क्रिया की अपेक्षा वास्तव में कर्तृनिष्ठ कोई गुण नहीं, अपितु चिन्तन अथवा बुद्धिगत धर्म है जो उस क्रिया के सम्बन्ध में सोचता है और उसका तात्त्विक रूप उस क्रिया का तत्पूर्व-वर्तीयवस्तुजात के साथ सहयोग के अनुमान के लिये उसके विचारों का विनिर्णय मात्र है—उदाहरणार्थ—स्वच्छन्दता, सापेक्षता के विपरीत और कुछ नहीं है सिवाय पूर्वावृत्ति विनिर्णय के अभार के तथा परवर्ती वस्तु या घटना के अनुमान या अनुमान के प्रति एक प्रकार की शिथिलता अथवा उदासीनता के। यहाँ हम यह देख सकते हैं कि मानव की चेष्टाओं पर सूक्ष्म विचार करते समय जो भी हम ऐसी शिथिलता या उदासीनता का अनुभव क्वचित् ही करते हैं तथापि हम पर्याप्त निश्चय के साथ परिणामों का अनुमान उद्देश्यों की अथवा कर्ता के स्वभाव को देख कर ही लेते हैं और तब भी कई बार ऐसा होता है कि उन चेष्टाओं को करते समय हमें वंसा कुछ भान होने लगता है और प्रायः सदृश पदार्थों के विषय में एक दूसरे के बदले सहज ग्रहण कर लिया जाता है यह भूल मानव-स्वच्छन्दता का स्वयंभूत आन्तरिक एवं सुस्पष्ट लक्षण ही माना जाता है। हमें ऐसा लगता है कि हमारी चेष्टाएं हमारी इच्छा पर निर्भर है—यह कई बार होता दीखता है—और यह हम कल्पना करने लगते हैं कि वह इच्छा अन्य किसी आधार पर अवलम्बित नहीं है, कारण

रहते अथवा एक का होना दूसरे की संभाव्यता का अनुमान नहीं करने देता। कारण, ये सब तो सीधी मानी हुई बातें हैं। तो फिर 'स्वच्छन्दता' का मतलब तो इतना ही हो सकता है कि हमारा अपनी इच्छाओं की प्रेरणाओं के अनुसार काम करना या न करना—बस यही स्वच्छन्दता है। अर्थात् हम निश्चेष्ट रहना चाहें तो विरत रहें, हम सचेष्ट होना चाहें तो हम क्रिया पर निर्भर रहें। ऐसी स्वच्छन्दता हर व्यक्ति को उपलब्ध है जो कारावास का बन्दी नहीं है। इतना ही यदि तात्पर्य है तो वाद का कोई विषय नहीं है।

७४. हम 'स्वच्छन्दता' की चाहे जो परिभाषा बनायें हमें दो आवश्यक

इस आधार के अस्वीकार से हम यह मानने लगते हैं कि हमारी इच्छा हर तरह दौड़ सकती है और स्वयं अपनी प्रतिभा कार्यरूप में उपस्थित कर देती है। जिसे कुछ दर्शनकार (फिलासेफर) भावविम्ब कहते हैं। कभी-कभी उस ओर भी जिधर वह प्रवृत्त नहीं भी हुई थी। वह प्रतिभा अथवा अस्पष्ट गति उस समय वस्तु रूप में व्याप्त हो गयी थी—ऐसा भी हम मानने को उद्यत हो जाते हैं—कारण यदि हम ऐसा न मानें तो पुनः परीक्षण करने पर ऐसा लगने लगता है कि तत्काल वह यों ही हो सकती है। हम यह भूल जाते हैं कि अपनी स्वच्छन्दता को प्रकट करने की यह मिथ्या भावना ही तो हमारी चेष्टाओं को प्रेरित करती है। यह तो निश्चित है कि हम चाहे जितनी स्वच्छन्दता का अपने आप में अनुभव कल्पित करते हों, कोई भी द्रष्टा हमारी चेष्टाओं का अनुमान हमारे स्वभाव और उद्देश्यों के बल पर ही लेता है। और कभी वह न भी कर पाये तो भी वह साधारण रूप से यह तो निगमन कर ही लेता है। वह अवश्य ही हमारी चेष्टाओं का सही-सही अनुमान कर लेता यदि वह परिस्थिति एवं स्वभाव के हर पहलू से भलीभाँति परिचित होता अथवा हमारे बाह्य स्वरूप और प्रवणता के गुह्यतम क्रियाशील प्रेरक यंत्रों से या प्रेरणा के मूलस्रोतों से पूर्णतया विदित होता। अतएव पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार हमारे द्वारा प्रपञ्चित 'सापेक्षतावाद' का यही मर्म है।

वस्तुओं का अवश्य ध्यान रखना होगा—? उसे परिस्फुट वास्तविकता के साथ अविरোধी होना होगा, अर्थात् वह परिभाषा प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होनी चाहिए और (२) वह स्वयं सुसंगत परिभाषा है। यदि हम इन दो शर्तों को निबाहते हुए कोई समझ में आने वाली परिभाषा बना सकते हैं तो मैं समझता हूँ अखिल मानव जाति वह ई एकमत ही होगी। यह सब मानते हैं कि कारण के वगैर कोई कार्य हो नहीं सकता और सूक्ष्मावलोकन पर 'दिष्ट' तो केवल निषेधात्मक शब्दमात्र है और किसी ऐसी वास्तविक शक्ति की ओर वह संकेत नहीं करता जिसकी प्रकृति में कहीं सत्ता हो। परन्तु यह कहा जाता है कि कुछ कारण अपरिहेय होते हैं और कुछ नैमित्तिक। यही हम परिभाषा का लाभ उठा सकते हैं। चलिए, किसी को 'कारण' की ही परिभाषा प्रस्तुत करनी चाहिए—ऐसी जो लक्षणीय का अंश न हो—जैसे 'कार्य' के साथ अविनाभाव सम्बन्ध ही कारण है—लक्षण कर्ता को 'कारण' की मूलभावना परिभाषा में विषय रूप से प्रकट करनी चाहिए—यदि कोई ऐसी परिभाषा प्रस्तुत करे तो मैं इस दलील को एकदम छोड़ दूँगा। परन्तु जिस तरह मैंने परिभाषा का स्वरूप निर्दिष्ट किया है वैसी सामने रखना बिल्कुल अशक्य है। यदि पदार्थों में परस्पर एकानुगता न हो तो हम 'कार्यकारण भाव की कल्पना ही नहीं कर सकते। और यह प्रत्यक्ष एकान्वय ही हमारे अनुमान को प्रेरित करता है और वही एक स्पष्ट सम्बन्ध है जो हमारे लिए बुद्धिगम्य है।^१

१. अथवा-कारण का लक्षण यह हो कि जो वस्तु का जनक हो, तो यह सहज सनझा जा सकता है कि 'जनक' होना ही 'कारण' होना है। उसी तरह यदि यह कहा जाय कि कारण वह है जिसके बल कार्य की सत्ता है—तो भी वही दूषण तदवस्थ है। क्योंकि 'जिसके द्वारा, जिससे' इन पदों का आखिर तात्पर्य है ही क्या? यदि यह कहा जाय कि कारण वह जिसके पश्चाद्भावी कार्य होता है तो हम अवश्य इस परिभाषा को समझ सकते हैं। क्योंकि बस इतना ही तो हम पदार्थों के विषय में जानते हैं, और यह 'नित्य सम्बन्ध ही 'सापेक्षता' का मूल तत्व है जिसके परे हम कुछ अधिक नहीं जानते।

एकान्वय सम्बन्ध को छोड़कर यदि कोई 'कारण' का लक्षण देने की चेष्टा करेगा तो वह कहीं दुर्बोध पदावली का प्रयोग करेगा अथवा लक्ष्य के पर्यायवाची शब्द ही देगा। यदि 'स्वच्छन्दता' का उपर्युक्त लक्षण स्वीकृत हो तो 'बन्धन' का प्रतियोगी नहीं, अपितु 'सापेक्षता' का प्रतियोगी 'स्वच्छन्दता' का स्वरूप 'दिष्ट' जैसा ही रहेगा—और 'दिष्ट' कोई तात्त्विक वस्तु नहीं—यह सर्वसम्मत तथ्य है।^१

तर्क पद्धति में यह प्रकार बहुत प्रचलित है और गलत है कि दार्शनिक वाद-विवाद में किसी सिद्धांत के खण्डन करने की चेष्टा में धर्म एवं आचार नीति की भीषण आपत्ति उठाने का बहाना ढूंढा जाय। जब कोई भी मत असंगत उत्तर में परिणत होता हो तो वह निश्चय असत् है परन्तु यह सत्य नहीं कि उस मत का परिणाम यदि दारुण निकलता हो तो वह असत् समझा जाय। ऐसे विषयों की छानबीन तो सहिष्णुता के साथ ही करनी पड़ती है कारण उन पर आपत्ति उठाना किसी तथ्य के अन्वेषण में सहायक नहीं होता, केवल प्रतिवादी की कुत्सामात्र करना है। आम तौर पर मैं इस पद्धति से किसी तरह लाभ न उठाते हुए ही विचार करता हूँ। मैं स्पष्टरूप से इस तरह छानबीन में उतरना पसन्द करता हूँ और ऐसे ही 'सापेक्षता तथा स्वच्छन्दता' के सिद्धांतों को दृढ़ता के साथ उपस्थित करने का साहस करूँगा जो न केवल आचार नीति से उत्पन्न होंगे अपितु उसके आधार पर एकदम निर्भर होंगे।

७५. 'सापेक्षता' की व्याख्या हम दो प्रकार से कर सकते हैं, जो 'कारण' की द्विविध परिभाषा से संगत होंगे। वजह यह है कि 'कारण' पर ही 'सापेक्षता' अवलम्बित है। 'सापेक्षता' या तो पदार्थों के सार्वकालिक सहअस्तित्व के रूप में होती है, अथवा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की सत्ता के अनुमान रूप में होती है। 'सापेक्षता' इन दोनों ही अर्थों में (जो वास्तव में एक ही हैं) सर्वसम्मति से, चाहे वह पाठशालाओं, भाषण

१. तुलना—भारतीय न्यायदर्शन ठीक यही लक्षण देता है—
'कार्यनियतपूर्ववर्णितत्त्वं कारणत्वम्।'

मंच पर अथवा सामान्य जीवन में ही कही गयी हो, मानव की इच्छा से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु मानी गयी है। और आज तक किसी ने इसको अस्वीकार नहीं किया कि हम मानव की चेष्टाओं के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं अथवा ये अनुमान मानव के उद्देश्य, स्वभाव अथवा परिस्थिति के आधार पर पूर्वानुभूति के बल पर किये जाते हैं। हाँ मतभेद यदि कहीं हो सकता है तो वह चाहे मानव चेष्टाओं के इस स्वरूप को 'सापेक्षता' यह नाम न दे, परन्तु जब तक तात्पर्य ठीक तरह समझा गया है मुझे आशा है कि शब्द विशेष प्रयोग में कोई विपत्ति नहीं। यदि यह स्वीकृत न हो तो उस विचारक को वस्तु की क्रिया प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में समन्वय ढूढ़ने के लिए और अधिक आगे प्रस्तुत होना होगा। तथापि यह एक ध्रुव सत्य है कि इसका धर्म अथवा अचार नीति से कोई सम्बन्ध नहीं, चाहे उसका सम्बन्ध कितना ही प्राकृतिक दर्शन अथवा अध्यात्मविद्या से क्यों न हो। यह कहना हमारी भूल होगी कि शारीरिक चेष्टाओं में अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध अथवा निर्भरता न हो, परन्तु यह निश्चित है कि हम मानसिक व्यापार को ऐसा कोई रूप नहीं दे सकते जिसका प्रतिफल मानव की क्रिया पर न पाया जाता हो। इच्छा की प्रेरक शक्ति के सम्बन्ध में हमारी पुरातन तर्क पद्धति में कोई अन्तर नहीं है जो भी कुछ विशेष पाया जाता है वह है केवल भौतिक पदार्थों और उनके कारणों के सम्बन्ध में। अतएव पूर्वोक्त सिद्धान्त की अपेक्षा अन्य कोई निगमन निर्दोष सिद्ध नहीं होता।

७६. समस्त नियम प्रशंसा एवं दण्ड पर आधारित हैं अतएव यह एक मौलिक सिद्धान्त माना जाता है कि इन उद्देश्यों का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव है और दोनों ही वासनाएं सत् को प्रोत्साहित करने तथा असत् का दमन करने में सफल हैं। इस प्रभाव का नामकरण हम चाहे जैसे करें, तथापि जहाँ तक इसका मानव चेष्टा से सम्पर्क है उसे 'कारण' कहना ही पड़ेगा और साथ ही 'सापेक्षता' का प्रतीक मानना ही होगा जिसे हम यहाँ प्रमाणित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। धृणा अथवा प्रतिशोध का यदि योग्य विषय बन सकता है और जब कभी कोई अपराधी अथवा हानिकर कर्म उस भावना को जागृत करता है तो निश्चय वह भावना

उस व्यक्ति पर अथवा तत्कृतृक क्रिया पर ही आधारित रहती है। चेष्टाएं स्वयं क्षणिक एवं नश्वर होती हैं और यदि वे व्यक्ति विशेष के चरित्र अथवा स्वभाव के कारण नहीं पैदा होती तो उन चेष्टाओं के अच्छी होने पर न तो वह उस व्यक्ति का गौरव ही बढ़ा सकती और न बुरी होने पर उसे कलंकित ही कर सकतीं। कार्य स्वयं चाहे गर्ह्य क्यों न हो परन्तु यदि व्यक्ति पर उनका उत्तरदायित्व न हो, कारण वे मानव के किसी शाश्वत एवं ध्रुव अंश से निस्सृत न होकर स्थायी रूप में उसमें विद्यमान नहीं पाये जाते, तो वह कभी भी दण्ड अथवा प्रतिशोध का विषय बन ही नहीं सकता। तो फिर 'सापेक्षता' और साथ ही 'कारणवाद' के सिद्धांत को अस्वीकार करने वालों के मत में तो मानव सदा विशुद्ध एवं निर्दोष ही रहेगा चाहे उसने कितना ही भीषण से भीषण पातक क्यों न किया हो और और वह वैसा ही स्वच्छ समझा जायगा जैसा वह जन्मा था। उसी तरह उसके कामों का भी सम्बन्ध किसी तरह उसके चरित्र से न रह जायगा क्योंकि उनके मत में मानव चेष्टाएं चरित्र निरपेक्ष मानी जाती हैं—फलतः यही परिणाम निकलेगा कि चेष्टागत दोष चरित्र की हीनता को उपपादित न करेगा।

मानव भूल से अथवा प्रसंगवश किये हुए काम के लिए, चाहे कितना ही वह भारी क्यों न हो, दोषी नहीं ठहाराया जाता—क्यों? कारण स्पष्ट है—ऐसी चेष्टाओं का मूलाधार स्थायी नहीं है और वह उस चेष्टा विशेष की समाप्ति के साथ लीन हो जाता है। उसी तरह त्वरा में अथवा अविवेकता में किये हुए कामों के लिए भी मानव अपेक्षाकृत कम दोषी गिना जाता है—वह उतना अपराधी नहीं समझा जाता जितना वह समझ-बूझ कर ठण्डे दिल से किये हुए कदाचार के लिए होता है। आखिर ऐसा क्यों? कारण यह है कि त्वराशील स्वभाव यद्यपि कुछ स्थायी कारण अथवा मनोवृत्ति का रूप है तथापि वह व्यवधानपूर्वक क्रिया पर होता है तथा उस व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र को दूषित नहीं करता। और लीजिये—अनुताप अपराध को वो धो देता है यदि वह जीवन तथा व्यवहार के सुधार की ओर प्रवण हो—इस सिद्धान्त का फिर कौन आधार होगा? उत्तर यही है कि वे ही चेष्टाएं पुरुष को अपराधी बनाती

हैं जिनका अस्तित्व उसकी दूषित वृत्ति से उद्भूत है, और यदि ऐसी कोई कारण सामग्री उपस्थित है जो उस वृत्ति को प्रमाणित नहीं करती तो वे सदोष कार्य को भी अपराध कोटि से बाह्य कर देती हैं। स्पष्ट बात तो यह है कि सापेक्षतावाद के बिना कोई भी चेष्टा दोष अथवा दोषाभाव के लिए प्रमाण नहीं हो सकती और न दूषित चेष्टा कर्ता को अपराधी ही सिद्ध कर सकती है।

७७. इसी तर्क परम्परा से यही सिद्ध करना सरल है कि पूर्व प्रतिपादित सर्वसम्मत परिभाषा के आधार पर 'स्वच्छन्दता' भी आचारनीति के अनुकूल ही रह सकती है और नैतिकता का आधार न होने पर कोई भी मानव व्यापार प्रशंसा अथवा निन्दा का पात्र हो सकता—कारण हमारे काम हमारी नैतिक भावनाओं के विषय हैं और वे भीतरी वासनाओं, भावनाओं तथा चरित्र के प्रतीक मात्र हैं और जो इन नैतिक भावनाओं पर अवलम्बित न हों उनके सम्बन्ध में प्रशंसा अथवा निन्दा को उद्बुद्ध करना अशक्य है चूंकि वे बाह्य कारणों के आघात से जनित हैं।

७८. उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध सकल आपत्तियों का मैं दूरीकरण अथवा खण्डन कर पाया हूँ। यह मेरा दावा नहीं है कि कारण सापेक्षता तथा स्वच्छन्दता के इस सिद्धान्त के विरुद्ध और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है और वे युक्तियाँ उन विषयों को लेकर प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनका विवेचन प्रकृत प्रकरण में नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ—यह कहा जा सकता है कि यदि समस्त स्वच्छन्द चेष्टाएं बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में सदा प्राकृतिक नियमों पर ही आधारित हैं तो सापेक्ष कारणों की एक अनुस्यूत शृंखला बटती हुई रहेगी और वे कारण वे ही होंगे जो पूर्व विहित तथा पूर्व निर्धारित हों—इस तरह मानव की हर चेष्टा पारस्परिक रूप में एक ही मूल कारण से निस्सृत होगी। ऐसा मान लेने पर तो जगत् में कही किसी तरह की औपधिकता न होगी, न होगी उदासीनता और न रहेगी स्वच्छन्दता। हमारे कर्तृत्व के साथ हम क्रिया के विषय भी बने रहेंगे। तो हमारी समस्त इच्छाओं का प्रेरक जगन्निर्माता प्रजापति ही होगा। जिसने की इस विश्व के विशाल यंत्र को सर्वप्रथम गति प्रदान और जिसने सकल वस्तुजगत् को स्थितिसम्पन्न किया जहाँ से उतर

प्रत्येक घटना अनिवार्य आवश्यकता से अनुप्रमाणित हो परिणत हुई । इस तरह तो मानव की किसी भी क्रिया में नैतिक दोष का होना माना ही नहीं जा सकेगा कारण तब ही चेष्टा परमेश्वर के द्वारा प्रेरित है जिसमें हेयगुण का साहित्य स्वीकृत है । और यदि कहीं नैतिक दोष हो भी तो उसका अपराधी विश्वस्रष्टा ही माना जायगा यदि वह सकल व्यापार का चरम कारण एवं कर्ता कहा जाय । जैसे वह पुरुष जो खदान में आग फूँकता है वही सकल परिणामों के लिए उत्तरदायी गिन जाता है चाहे उस कार्य के सम्पादन में अन्य व्यक्ति कम या ज्यादा क्यों न हों, उसी तरह यदि कारणों की शृंखला एक कड़ी से दूसरी तक लगी हुई मानी जाय तो अन्ततः तो वही पुरुष-चाहे सर्वशक्तिमान हो अथवा अल्पशक्तिमान असीम हो या ससीम—जिसने प्रथम गति प्रदान की हो, समस्त परिणामों का जनक माना जायगा और सारी निन्दा अथवा प्रशंसा का पात्र भी वही होगा । हमारे अन्तःकरण में स्पष्ट एवं अपरिवर्तनीय रूप से निर्धारित ये भावनाएं इसी नियम को सिद्ध करती हैं । जिस पर कोई वाद नहीं उठाया जा सकता । जब हम मानव की चेष्टाओं के परिणामों का विश्लेषण करते हैं और वह नियम अधिक बलवान तब हो जाता है जब उसका समन्वय हम उस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान परम पुरुष पर करने लगते हैं । मानव जैसे पामर व्यक्ति के लिए दुर्बलता तथा अज्ञता का उपदेश लिया जा सकता है परन्तु इन त्रुटियों के लिए परम पुरुष के पास स्थान कहाँ । उसे तो पूर्व में ही भान था जब उसने मानव की चेष्टा का विधान किया और मानव की सकल चेष्टाएं तो उसी की मनीषारूप हैं जिन्हें हम इतने अविवेक के साथ पोषित करते हैं । अतएव हमें इस निगमन पर पहुँच जाना चाहिए कि वे सदोष नहीं हैं अथवा परमेश्वर—न कि मानव—उनका उत्तरदायी है । हर सूरत में यह निगमन अनुपपन्न तथा अधर्म्य है । अतएव यही मानना होगा कि वह सिद्धान्त गलत ही है जो ऐसी असंगत बातें सामने रखता है और जिस पर सब तरह आपत्ति उठायी जा सकती है । अनुपपन्न निगम न सदा सिद्धान्त की अनुपपत्ति को प्रमाणित करता है जिस तरह अपराध मूल कारण को सदोष सिद्ध करता है उनमें परस्पर सम्बन्ध जैसा भी अपरिहेय अथवा परिहेय रहा हो ।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के दो अवयव हैं और इनकी समीक्षा हम पृथक्-पृथक् ही करेंगे—

१—प्रथम तो यह है कि यदि मानव चेष्टाओं का मूल प्रयोजक हेतु क्रमशः एक ही परम पुरुष तक पहुँच जाता हो तो वे कभी भी दोषावह नहीं कहीं जा सकती क्योंकि वे ऐसे परम सिद्ध पुरुष से प्रसूत हैं जो सदा सत् एवं शुभ के सिवाय और किसी का निर्माण सोच ही नहीं सकता । अथवा—२—यदि वे चेष्टाएं दोषावह मानी जाँय तो हमें उस महान् पुरुष के गुणों में से चरम सिद्धि तथा परिपूर्णता का अंश रहित करना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि स्वयंमुत्पादित प्राणिजगत् के अपराधों तथा अनैतिक व्यवहारों का पारस्परिक रूप से वही कर्ता है ।

७९. पूर्वपक्ष के प्रथममांश का उत्तर तो स्पष्ट एवं प्रत्यायक है । कई ऐसे दार्शनिक हैं जो प्राकृतिक वस्तु का सूक्ष्म विवेचन कर इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यह विश्व एक समूची सृष्टि के नाते हर युग में सदा पूर्ण-रूप से हितकारी ही रचा गया है और परिणाम में हर जीव को एकान्त सुख ही उपलब्ध होगा जिसमें अभद्र अथवा दुःख का सम्मिश्रण बिलकुल न हो । उनकी मान्यता है कि प्रत्येक भौतिक बुराई इस लोक मंगलमयी सृष्टि का एक अंश है जो सम्भवतः सृष्टा के द्वारा भी हटाया नहीं जा सकता जो एक सर्वज्ञ कर्ता के रूप में न तो अधिक बुराई को ही आने देता और अधिकाधिक भलाई को ही आने से मना करता । इस सिद्धांत के आधार पर कई दार्शनिकों को—विशेषकर स्टोइक विचारकों को—हर संकट में सन्तोष का विषय उपलब्ध हुआ है—वे अपने अनुयायी को बताते हैं कि वे कष्ट, जिनका उन्हें सामना करना पड़ता है, वास्तव में विश्वमंगल के स्वरूप हैं और इसी दृष्टिकोण को यदि और व्यापक बनाया जाय तो इस समग्र विश्व के समष्टि रूप में प्रत्येक घटना केवल हर्ष एवं प्रमोद का ही विषय है । तथापि यह विषय व्यापक एवं उदात्त क्यों न हो लोक व्यवहार में दुर्बल तथा प्रभावहीन सिद्ध हुआ है । यदि तुम किसी बातव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति को विश्वव्यापी नियमों का उपदेश करने लगे तो उसे सान्त्वना की अपेक्षा कहीं अधिक कुपित ही करोगे जिनके कारण शरीर के अन्तर्गत त्रिदोष कुपित होकर सकल शरीर में व्याप्त हो उसे

इतनी भयंकर वेदना दे रहे हैं। यह व्यापक दृष्टिकोण भले ही किसी सुखी दार्शनिक को क्षणभर आनन्ददायक हो परन्तु वह न तो उसके मन में भी चिरस्थायी रह सकता है चाहे वह किसी भी वेदना अथवा उग्र भावना से कितना ही अछूता क्यों न हो। ऐसे ये दार्शनिक अपने सिद्धान्त पर अटल नहीं रह सकते जब उनका संघर्ष ऐसे कठोर प्रतिपक्षियों से ठहर जाय। वेदना के भाव विषय को स्वाभाविक रूप में ग्रहण करते हैं और उसे संकीर्ण आलोक में ही देखते हैं। साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से वे मानव मस्तिष्क की निर्बलताओं को ध्यान में रख उन्हीं भावनाओं से प्रेरित होते हैं जो उनके समक्ष निजी जीवन क्रम में भली या बुरी प्रतीत होती हैं।

८०. जैसी स्थिति भौतिक अरिष्टों की है ठीक वैसी ही नैतिक की भी। यह मानना तो शुद्ध तर्क न होगा कि वे पारस्परिक हेतु जिनका एक वस्तु पर इतना स्वल्प प्रभाव दीखता है किसी अन्य वस्तु पर उसका अत्यन्त अधिक प्रभाव न हो। प्रकृति ने मानव मस्तिष्क की कुछ ऐसी रचना की है कि एक खास तौर के स्वभाव, काम अथवा चरित्र को प्रशंसा अथवा घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। और ये भाव न तो उसके रचना के और न उसके संविधान के अवयव हैं। वे चरित्र हमारे प्रशंसा के पात्र बन जाते हैं जो विशेषकर मानव समाज में शान्ति एवं सुरक्षा के सहायक होते हैं, वे पात्र हमारी घृणा के विषय हो जाते हैं जो समाज के लिए अहितकर चेष्टाएं करते हैं अथवा शान्तिभंग के उत्तेजक होते हैं। इन उदाहरणों को देख यह माना जा सकता है कि नैतिक भावों का प्रादुर्भाव साक्षात् अथवा पारस्परिक रूप में इन्हीं युगल परस्पर विरोधी भावनाओं के कारण होता है। चाहे दार्शनिक विचार क्यों न इससे विपरीत कल्पना अथवा मत अपनाये, क्या समष्टि रूप से देखने पर विश्व में सब कुछ अच्छा ही है और वे धर्म, जो समाज में हलचल पैदा कर दें, वह भी सब अच्छे ही है और वे उतने ही प्रकृति के मुख्य लक्ष्य के संसाधक हैं जितने कि दूसरे, जो साक्षात् रूप में सुख और कल्याण के सम्पादक हैं। क्यों ये पारस्परिक एवं अनिश्चित कल्पनाएं हमारे उन भावों के समकोटि बन सकती हैं जो वस्तु के साक्षात् एवं नैसर्गिक स्वरूप से उद्भूत होते हैं ?

क्या वह पुरुष जिसकी एक बड़ी धनराशि लूट ली गयी है कभी इन उदार विचारों से सान्त्वना पा सकता है ? क्यों कर तब उसका अपराधों के विरुद्ध नैतिक कोप इन विचारों के साथ असंगत पाया जाय ? अथवा क्यों नहीं गुण अवगुण के बीच वर्तमान अन्तर समस्त दार्शनिक विचारधारा में सामंजस्य के साथ अन्तर्भूत नहीं होता जैसे शारीरिक सौन्दर्य अथवा कुरूपता का तात्त्विक भेद । उभय प्रकार का यह द्वैधीभाव मानव मस्तिष्क के सहज भावों पर आधारित है और इन भावों का नियंत्रण अथवा परिवर्तन किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त अथवा तर्क द्वारा नहीं किया जा सकता ।

८१. पूर्वपक्ष के दूसरे अंश का प्रत्युत्तर इतनी सरलता के साथ अथवा सन्तोषजनक रूप में नहीं दिया जा सकता । न यह भी स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है कि किस तरह परमेश्वर मानव के समस्त कार्य का प्रेरक माना जाय जब तक उससे पाप एवं नैतिक अनाचार का कर्तृत्व स्वीकृत न हो । ये वे परमगुह्य तत्व हैं जिनका विवरण सामान्य बुद्धि के द्वारा नहीं किया जा सकता । चाहे जो दार्शनिक पद्धति को अपना लें, वह सदा न सुलझने वाली गुत्थियों में ही फंसी रहेगी और उसे प्रतिपद विरोध का अनुभव करना होगा । अलौकिक ज्ञान अथवा पूर्वावबोध द्वारा मानवीय चेष्टाओं में असंगति तथा यदृच्छा के बीच सामंजस्य को स्थापित करने की चेष्टा करना अथवा दिष्ट का अन्तिम निर्णय मानना और साथ ही साथ जगन्निघन्ता को अपराध मुक्त समझना यह सब दार्शनिक शक्ति के बिलकुल परे है । यह कहीं अच्छा हो कि वह (दर्शन) अपनी इस अविनृश्यकारिता का अनुभव कर ले और इन परम गहन रहस्यों में उतरने से बचा रहे । इतनी उलझनों तथा अगम्य रूप के दृश्यों से दूर रहकर समुचित विनय के साथ अपने सच्चे और समुचित दायरे में लौटकर सर्वसाधारण जीवन एवं व्यवहार का परीक्षण करने में ही सीमित रहे । जिसमें भी जाँच करते हुए अनेक कठिनाइयाँ बिना उस सन्देह अनिश्चय एवं परस्पर बोध के अगाध महासागर में डूबते ही उसके सामने उपस्थित होती रहेंगी !

नवाँ परिच्छेद

प्राणिवर्ग की बुद्धि

८२. भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में हमारे तर्क उपमिति पर आधारित होते हैं जिससे हम सुसदृश कारणों से अनुरूप कार्यों के प्रजनन को पहिले कभी देख वैसे ही कारणों की उपस्थिति में वैसे ही कार्यों की उत्पत्ति की सम्भावना करने लगते हैं। जहाँ कारणों में नितान्त सादृश्य हो वहाँ तो उपमिति प्रामाणिक सिद्ध हो सकती है और तन्मूलक अनुमान निश्चित एवं शुद्ध हो सकता है जैसे लोहे के टुकड़े को देख यह कहा जाय कि इसमें वजन एवं अवयवगत सान्द्रता है—उसी तरह अन्य निदर्शन भी हैं जो उपमिति के विषय में हैं परन्तु जहाँ कारणों में इतना निकट सादृश्य नहीं है वहाँ उपमिति भी अत्यन्त शुद्ध एवं अबोध नहीं होती तथा तन्मूलक अनुमान पूर्णतया सिद्ध नहीं हो सकता, यद्यपि सादृश्य एवं सरूपता के अनुपात में वहाँ तथ्य होने की सम्भावना अवश्य है। एक प्राणी के शरीर का विच्छेद [कर प्राप्त शरीरज्ञान भी इसी प्रकार के तर्क का मूल है जब उस ज्ञान का प्रयोग अन्य प्राणियों की देह रचना के सम्बन्ध में किया जाय और यह एक ध्रुव सत्य है कि जब मछली या मेंढुक या किसी अन्य एक प्राणि में रक्त प्रवाह एक-सा पाया जाता है तो यह अनुमान उचित है कि इसी तरह रक्त प्रवाह समस्त प्राणियों के शरीर में होता है। उपमितिजन्य तर्क और भी व्यापक बनाये जा सकते हैं और मनोविज्ञान पर भी लागू किये जा सकते हैं। कोई भी सिद्धान्त जिसके द्वारा हम बुद्धि के व्यापार अथवा मानव हृदय के भावों का उद्गम अथवा जन्यजनक भाव को समझते हैं यदि किसी एक निदर्शन पर अन्वित होता है तो अवश्य ही वह अन्य निदर्शनों पर भी समन्वित होगा। हम इसका परीक्षण करेंगे और पूर्व अध्याय में प्रकल्पित पूर्व सिद्धान्त का समन्वय प्रायोगिक तर्क के क्षेत्र में कितना हो सकता है इसकी जाँच करने का

यत्न करेंगे और आशा है कि समीक्षा का यह नूतन बिन्दु हमारे पूर्व प्राप्त निगमनों को सुदृढ़ बनाने में सहयोग देगा ।

८३. सबसे पहिली बात यह तो स्पष्ट है कि मानव तथा अन्य सकल प्राणी भी अनुभव से अनेक चीजें जान जाते हैं और यह अनुमान कर लेते हैं कि उन्हीं कारणों से वे ही कार्य प्रसूत होंगे । इस सिद्धान्त के बल वे बाह्य पदार्थों के स्फुट धर्मों से अवगत हो जाते हैं और क्रमशः जन्म से ही पृथ्वी तेज, प्रस्तर, ऊंचाई, गहराई तथा तज्जन्य परिणामों का ज्ञान संचित कर लेते हैं । इसी वजह तरण के अज्ञान और अनुभवहीनता में और वृद्ध की चातुरी एवं दूरदर्शिता में अन्तर पाया जाता है । कारण वृद्ध अपने सुदीर्घ अनुभव से यह जान लेता है कि कौन वस्तु उसके लिए हितकर एवं हानिकारक होगी । मैदान में कूदने का अभ्यास करके घोड़ा भी ऊंचाई की कल्पना करने लगता है और वह कभी भी अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य का अतिक्रम नहीं करता । एक पुराना शिकारी कुत्ता किसी छोटे जानवर की चाल कि वह कितनी देर में थक जाता है, इस बोध पर विश्वास रख इस हिसाब से दौड़ता है कि वह खरगोश की दौड़ का मुकाबिला, बराबर करता है—उसका यह अनुमान और किसी चीज के आधार पर नहीं लेता सिवाय उसके अनुभव तथा पूर्ववत् निरीक्षण के ।

प्राणियों को दी हुई शिक्षा एवं अनुशासन के प्रभाव तो और भी अधिक स्पष्ट है—शाबास के वचन अथवा पारितोषिक एवं दण्ड के समुचित प्रयोग से जानवर किसी भी काम को सीख लेते हैं चाहे वह उनकी नैसर्गिक चेतना तथा प्रवृत्तियों के कितना ही प्रतिकूल क्यों न हो ? क्या यह अनुभव का फल नहीं कि कुत्ता वेदना की प्रतीति करने लगता है ज्योंही तुम उसे धमकाने लगते हो अथवा चाबुक पर हाथ रखने को होते हो ? और क्या यह अनुभवजन्य प्रतीति नहीं है कि अपने नाम से पुकारे जाने पर उठने लगता है और उस यदृच्छा सन्निविष्ट ध्वनिसमूह से कल्पना करने लगता है कि आप का अभिप्रायः उसी से है और उसके अथ साथियों से नहीं और जब वह आपके शब्द एवं स्वर विशेष को सुनकर आपके पास तुरन्त आ पहुँचता है ?

हम समझ सकते हैं कि इन सब निदर्शनों में यह देखते हैं कि प्राणी

उसके साधारण इन्द्रिय गोचर ज्ञान से कहीं अधिक समझ लेता है, वह अप्रत्यक्ष बोध अनुमान जन्य होकर पूर्वानुभव पर आधारित है जब वह वर्तमान स्थिति अथवा वस्तु से उसी परिणाम या घटना की आशा करने लगता है जैसी तत्सदृश स्थिति में पहिले कभी हुई थी ।

८४. दूसरी बात यह है कि जानवर इस बोध को किसी तर्क शक्ति या विचार बुद्धि से पाता है—यह मानना तो अशक्य है । उसके बोध की जड़ तो यही है कि सदा एक-सी परिस्थिति में परिणाम वैसा ही होता है और यह आभास कि निसर्ग की प्रवृत्ति सदा एक सी होती है । यदि इस प्रतिज्ञा के मूल में कोई तर्क है तो वह अबोध प्राणियों के लिए अगम्य है, कारण वह तर्क तो किसी भी दार्शनिक बुद्धि की सूक्ष्म सतर्कता के लिए पर्याप्त है । अतएव यही कहना संगत होगा कि ऐसी कल्पनाओं में प्राणिवर्ग तर्क का अवलम्बन नहीं करते और उसी तरह अबोध शिशु भी और प्राकृत जन भी अपने सामान्य कामों में तथा निर्णयों में तर्क को नहीं अपनाते । और यही स्थिति दार्शनिकों की भी है जो अधिकांशतः अपने जीवन में प्राकृतजन की तरह ही व्यवहार करते हैं और उन्हीं नियमों पर चलते हैं । प्रकृति ने अवश्य ही प्राणियों की कोई अन्य आशुग्राही तथा साधारणोपयोगी, सर्वत्र व्यापक साधन दिया होना चाहिए—यह तो सम्भव नहीं कि कारण से कार्य के अनुमान करने जैसी भौतिक महत्व की तर्कशक्ति इतने बोध के अनिश्चित तरीकों पर विश्वास के साथ छोड़ दी जाय । यदि ऐसे किसी नैसर्गिक साधन का होना मानव में नहीं माना जाता हो तो भी अन्य तिर्यग्जीवों में तो उसके सिवाय और हो भी क्या सकता है । और यदि ऐसे साधन का अस्तित्व निम्नकोटि के प्राणिवर्ग में हो सकता है तो फिर मानव में उसी के अस्तित्व के विषय में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता । कारण एकत्र किसी एक वस्तु का होना सादृश्य प्रमाण के आधार पर इस सम्भावना को दृढ़ बना देता है कि वही वस्तु अन्यत्र वैसी ही जगह पर अवश्य होगी । यह पूर्वाभ्यास ही एक मात्र एक ऐसा साधन है जो प्राणिवर्ग को यह कल्पना करा देता है कि उनके प्रत्यक्षगोचर किसी पदार्थ होने पर उसके परिणामी का वहाँ सहास्तित्व होगा । इसी कल्पना को हम 'प्रत्यय' कहते हैं । सचेतन जीवों में ऊँचे या नीचे इस प्रत्यय के उत्पन्न

होने का कोई और कारण नहीं बताया जा सकता जो हमारे देखने में आया हो।^१

१. वस्तु लक्ष्मी अथवा कारण सम्बन्धी सकल तर्क पूर्वाभ्यास से प्राप्त होते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि क्योंकि मानव अन्य प्राणियों से तर्क में बढ़कर होता है और क्योंकि एक मानव दूसरे से अधिक प्रवीण होता है ? क्या वह अभ्यासज ज्ञान सब प्राणियों पर एक सा प्रभाव नहीं रखता ?

हम अब यहाँ मानव बोध में जो महान् अन्तर है उसका संक्षेप में विवेचन करने का यत्न करेंगे : तत्पश्चात् मानव एवं अन्य प्राणियों की बोध शक्ति में अन्तर समझना सरल हो जाएगा—

१. जब हम कुछ समय तक रह लेते हैं तथा प्रकृति की एकरूपता से भलीभांति परिचित हो जाते हैं तो हमें एक सामान्य अभ्यास-सा हो जाता है जिसके बल हम ज्ञात से अज्ञात भी होगा यह कल्पना भी करने लगते हैं। इस अभ्यास के साधारण नियम के बल इस प्रयोग को भी हम तर्क का आधार बना लेते हैं और जब वह प्रयोग बाह्य स्थितियों से अप्रभावित तथा सूक्ष्मता के साथ किया गया हो तो वह किसी हृद निश्चय के साथ हमें तत्सदृश घटना का अनुमान करा देता है। अतएव यह एक महत्व का विषय है कि हम वस्तु अथवा घटना का पौर्वापर्य नियम भली-भांति देखें और चूँकि एक मानव दूसरे की अपेक्षा सावधानी, निरीक्षण तथा स्मृति में अधिक बलवान् होता है उसकी तर्कशक्ति भी तदनुरूप ही होती है।

२. जब किसी कार्य की उत्पत्ति में अनेक या विविध कारणों का सहयोग होता है तो एक मस्तिष्क दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यापक होने से सकल कारण वर्ग का भलीभांति बोध कर पाता है और तज्जन्य परिणामों को भी अधिक अच्छा अवगत कर सकता है।

३. किसी व्यक्ति में कार्य जात की परम्परा का दूर का अनुशरण करने की अधिक शक्ति होती है इसी से उसमें दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा तर्क शक्ति अधिक बलवती पायी जाती है।

४. बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो दीर्घसमय एक सूत्र से सोच

८५. यद्यपि प्राणिवर्ग अपने ज्ञान का अधिक भाग निरीक्षण द्वारा प्राप्त करता है, तथापि कई अंश ऐसे हैं जो वह प्रकृति के हाथ साक्षात् अधिगत करता है। ये अंश इतने उनकी साधारण शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान् होते हैं और वे सुदीर्घ अभ्यास एवं अनुभव से उन प्रकृति-लब्ध अंशों में कोई विशेष वृद्धि नहीं कर पाते। इन्हें हम नैसर्गिक प्रेरणा अथवा चेतना कहते हैं और उसे असाधारण मानकर उसकी प्रशंसा करते हैं। उसका अस्तित्व एवं उद्भव मानव बोध की चर्चा के परे हैं। परन्तु

सकते हों तभी विचार धारा में सम्भ्रम के आवर्त्र में न गिरते हों तथा एक के स्थान पर दूसरे का भ्रम न करते हों—मानवों में यह दुर्बलता न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्तिशः पायी जाती है।

५. प्रायः वह स्थिति जो कार्य की जननी है विजातीय तथा बाह्य स्थितियों से मिश्रित उपलब्ध होती है—ऐसी सम्मिश्र दशा में विचारक को बहुधा बड़ी सावधानी एकाग्रता तथा सूक्ष्मदर्शिता को बरतना पड़ता है।

६. स्फुट घटनाओं के एकैकशः निरीक्षण कर सामान्य नियम का निर्धारण करना एक बड़ी रोचक क्रिया है परन्तु इस निगमन प्रणाली में—चाहे त्वरा के कारण अथवा मानसिक संकीर्णता के कारण द्रष्टा चतुरस्त्र निरीक्षण न कर किसी भी अंश में प्रमाद कर सकता है।

७. जहाँ हम उपमिति के आधार पर तर्क करने को उद्यत होते हैं तो वह तार्किक अधिक सफल होता है जिसे अनुभव तथा सौसादृश्य के परीक्षण में पटुता अधिक हो।

८. शिक्षाकृत, रुचिजन्य अथवा दल भावना आदि से प्रेरित पूर्वाग्रह किसी मस्तिष्क पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशील होते हैं।

९. मानवीय साक्ष्य के बल आत्मविश्वास प्राप्त करने के पश्चात् ग्रन्थावलोकन तथा विशेषज्ञों के साथ संलाप एक व्यक्ति के अनुभव तथा विचार को दूसरे के अनुभव तथा विचार की अपेक्षा अधिक व्यापक बना देते हैं।

इस प्रकार और भी कई कारण देखे जा सकते हैं जो मानवों में व्यक्तिशः बोधगण तारतम्य के घटक होते हैं।

हमारा यह विस्मय अल्प हो जाय या न रहे यदि हम यह सोच लें कि हमारा प्रयोगसिद्ध तर्क जो पशु में और मानव में तुल्य है तथा जिस पर हमारे जीवन की यात्रा निर्भर रहती है—वास्तव में नैसर्गिक चेतना का ही एक रूप है, वह यंत्र जैसी शक्ति है जो अविज्ञातरूप हमारे में अनुरूप काम करती रहती है और जिसका मुख्य व्यापार किसी भी वस्तुगत सम्बन्ध अथवा विचारों के सादृश्य से प्रेरित नहीं होते हैं जिस तरह हमारी बौद्धिक शक्ति में अन्य साक्षात् विषय होते रहते हैं। यद्यपि यह चेतना भिन्न प्रकार की है, तथापि है वह चेतना ही जो हमें आग से बचने को कहती है जैसे वह किसी पक्षी को ठीक-ठीक तरह अण्डपोषण की कला, शिशु-पालन की विधि तथा सौरकर्म को सिखाती है।

दसवां परिच्छेद

कौतुक

८६. डा० टिलोटसन के लेखों में 'भौतिक सत्ता' के विरुद्ध इतना संक्षिप्त, सुन्दर एवं बलवान तर्क उपस्थित किया गया है जैसा किसी भी सिद्धान्त को उन्मूलित करने के लिए प्रयुक्त हो सकता है। वास्तव में यह सिद्धान्त इतना तुच्छ है कि वह किसी भी विचार से खण्डन की अपेक्षा नहीं रखता। उस विद्वान् लेखक का कथन है यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि रूढ़ि अथवा शास्त्र की प्रामाणिकता केवल ऋषियों के वचन पर आधारित है, जिन्होंने हमारे जगद्रक्षक विभु के अद्भुत कर्म आँखों से देखे हैं जो उसके दैनिक उद्देश्य के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। अतएव हमारे ईसाई धर्म की यथार्थता के लिए प्रमाण हमारी इन्द्रियों की प्रामाणिकता की अपेक्षा न्यून है और हमारे धर्म के प्रतिष्ठापक महात्माओं के पास इससे अधिक बलवत्प्रमाण न था और यह भी मानना ही होगा कि क्रमशः उसकी बलवती शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा में घटता ही रहा। साथ ही साथ यह एक निश्चित सत्य है कि कोई भी उस शब्द प्रमाण पर उतना विश्वास नहीं कर सकता जितना प्रत्यक्ष पर। तथापि एक अपेक्षाकृत दुर्बल प्रमाण भी बलवत्तर प्रमाण को अपार्थ नहीं कर सकता और इसलिए शास्त्रों में यदि 'भौतिक सत्ता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया भी हो तो भी इतने से आधार पर उसे मान्यता दे देना भी तो युक्तियुक्त तर्क के नियमों से साक्षात् विरुद्ध ही है। यह तात्त्विक सत्तावाद का प्रत्यक्ष विरोधी है। और उसका मूल आधार शास्त्र अथवा रूढ़ि निश्चय ही प्रत्यक्ष जैसा इतना प्रामाणिक नहीं जब तक वह केवल बाह्य साक्ष्यमात्र होकर प्रत्येक प्रमता के हृदय में परमात्मा के साक्षात् व्यापार का अनुभव स्वतः सिद्ध न हो जाय।

इस सम्बन्ध में और कोई कथन उपयुक्त नहीं हो सकता सिवाय किसी निश्चयात्मक तर्क के जो कम से कम अत्यन्त हठवादी अन्ध परम्परा तथा अन्धविश्वास को निरुत्तर कर हमें उनकी अनुचित मान्यताओं के स्वीकार करने के अनुनय से मुक्त कर दे। यह कहते मुझे आत्मश्लाघा का अनुभव होता है कि मैंने ऐसे तर्क की उद्भावना की है जो सत्य सिद्ध होने पर प्रेक्षावान्, विद्वानों को सदा के लिए अन्ध विश्वास के चंगुल से बचाये रखेगा और फलतः प्रलयपर्यन्त सिद्ध होगा।

८७. यद्यपि मूर्त भौतिक द्रव्यों के विषय में प्रस्तुत तर्क का आधार हमारा अनुभव मात्र ही होता तथापि यह तो मानना ही होगा कि यह आधार सर्वथा निभ्रांत नहीं हो सकता तथा कहीं-कहीं हमें प्रमाद तथा भ्रम में भी गिरा सकता है। हमारे देश के वातावरण में रहने वाला कोई भी व्यक्ति जून मास के किसी भी सप्ताह में दिसम्बर की अपेक्षा भले मौसम की ही उम्मीद करेगा और वह अनुभव केवल उचित एवं अन्वयी तर्क ही कहा जायगा, तथापि यह सुनिश्चित है कि किसी समय उसका अनुमान गलत निकल जाय। इतना होते हुए भी हम देखते हैं कि वह अपने अनुभव के साथ कोई शिकायत नहीं कर सकता, कारण हमें ऐसे अनुभव की अनिश्चितता का सदा पूर्वाभास साधारणतः रहता है और वस्तुस्थिति की विषमता को हम सावधान समीक्षण द्वारा समझ सकते हैं। गृहीत कारणों से सर्वदा सकल कार्यों की पश्चाद्भाविता नहीं पायी जाती—कुछ घटनाएं सब देशों तथा युगों में सदा एकानुगत पायी जाती हैं और कुछ परिवर्तनशील मिलती हैं तथा हमारी कल्पनाओं के विपरीत निकल पड़ती हैं। अतएव पदार्थ विषयक तर्क के सम्बन्ध में निश्चितता समस्त कल्पित मात्रा में उपस्थित रहती है—परमोच्च सम्भाव्यता से लगाकर आन्तरिक साक्ष्य के निम्नतम कोटि तक।

अतएव प्रज्ञाशील व्यक्ति अपनी धारणाओं को साक्ष्य के अनुपात में रखता है। निभ्रान्त अनुभव के आधार पर स्थिर निगमनों में वह प्रकल्पित घटना के निश्चय को चरम सीमा तक स्वीकृत कर सकता है तथा

अपने पूर्वानुभव को कार्यनिष्पत्ति के होने में अबाध प्रमाण मान सकता है। इतर विषयों में वह कुछ सावधानी से आगे बढ़ता है, वह विरुद्ध पूर्वानुभवों का भी माप-तौल रखता है और यह सोचता है कि कौन-सा पलुवा पूर्वानुभवों की आवृत्ति के कारण भारी है जिधर वह संकोच तथा सन्देह के साथ झुकता है और अन्ततः जिधर वह निर्णय पर पहुँचता है वह भी केवल सम्भाव्यता की सीमा से परे नहीं लेता। तो फिर सकल सम्भाव्यता तो अनुदर्शन तथा प्रयोगों के समविषम निदर्शनों पर अवलम्बित रहता है। और जिधर पलुवा भारी हो उधर ही साक्ष्य का भार अपनी उत्कृष्टता के अनुपात में प्रतिपक्ष से बलवत्तर सिद्ध होता है। किसी पक्ष के अनुकूल सौ निदर्शन अथवा प्रयोगफल हों और विपक्ष में पचास तो वह किसी अनुगामी घटना की प्रत्याशा संशयात्मक बना देता है चाहे एक-सा परिणाम प्रकट करने वाले सौ प्रयोग एक विरोधी उदाहरण के रहते निश्चितता के अत्यन्त निकट प्रमाता को पहुँचा सकते हैं। सर्वत्र यों तो हमें बलाबल का विचार रखना चाहिए और किसी भी धारणा के बल की मात्रा जानने के लिए अधिक आवृत्ति वाले कार्य की सम्भाव्यता में तत्प्रतिकूल निदर्शनों की संख्या का व्यतिकलन अवश्य कर लेना चाहिए।

८८. उपर्युक्त सिद्धान्तों का किसी दृष्टान्त पर समन्वय करना हो तो हम यह कहेंगे कि तर्क का कोई भी प्रकार इतना सर्व-साधारण, इतना परमोपयोगी तथा मानव जीवन के लिए अत्यावश्यक अन्य कोई नहीं है जितना कि वह तर्क, जो प्रत्यक्ष द्रष्टा पुरुषों की साक्ष्य पर आधारित होता है। संभवतः इस प्रकार के तर्क को कार्यकारण भाव पर आधारित कोई न माने। मैं किसी भी शब्दविशेष पर विवाद नहीं करता। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस तरह के तर्क के अबाधित होने में हमारा विश्वास मानव साक्ष्य की पारमार्थिकता तथा प्रत्यक्ष द्रष्टाओं के विवरण के अनुरूप वस्तुस्थिति की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं होता। जब यह एक सामान्य नियम है कि किसी वस्तु का अन्ध वस्तु के साथ कोई दृष्ट सम्बन्ध है तथा वस्तु विषयक समस्त अनुमान उनके पारस्परिक सहयोग तथा नियमित सहवृत्ति के सम्बन्ध में

हमारे अनुभव मात्र पर आधारित होते हैं तो यह स्पष्ट है कि हमें इस नियम के अपवाद रूप मानवसाक्ष्य को मानना नहीं चाहिए जिसका सम्बन्ध भी अन्य किसी घटना से चाहे उतना ही स्वल्प क्यों न हो ? मानव की स्मृति कुछ सीमा तक चिरस्थायिनी नहीं होती—क्या मानव की प्रवृत्ति सत्य की ओर सहज नहीं होती—क्या तथ्यवाद कहीं नहीं होता—मिथ्या सिद्ध हो जाने पर क्या मानव को त्रया नहीं होती—यदि ये सब बातें अनुभव द्वारा जनित धर्म में न होतीं तथा मानव प्रकृति में सहज न पायी जाती तब तो अवश्य हमें मानव साक्ष्य में तनिक भी विश्वास न रखना चाहिए। किसी उन्मत्त अथवा प्रमत्त, मिथ्यावादी अथवा खल पुरुष की बातों को हम प्रमाण किसी तरह नहीं मानते।

चूँकि प्रत्यक्षदर्शन तथा मानवशब्द का प्रमाण्य हमारी पूर्वानुभूति पर ही निर्भर है, वह अनुभव के अनुरूप विभिन्न होता है तथा क्वचित् सिद्धरूप और क्वचित् सम्भाव्य रूप रहता है। अन्यतर रूप का होना, वस्तु कैसी है तथा तत्सम्बन्धी मानव साक्ष्य कैसा है और उसका रूप शाश्वत है अथवा परिवर्तनशील, इस पर ही अवलम्बित रहता है। इस प्रकार के निर्णयों पर विचार करते समय अनेक परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक होता है तथा समस्त विकल्पों का अन्तिम निर्णय अनुभव तथा निरीक्षण से ही फलित होता है। जहाँ यह अनुभव किसी एक पक्ष में पूर्णरूप से एक-सा नहीं होता तथा हमारे निर्णयों में अनिवार्य विविधता को उपस्थित करता तो अन्य किसी भी साक्ष्य की भांति वह भी तर्क का परस्पर विरोधी तथा बाधक सिद्ध होता है। हम प्रायः दूसरों के विवरण अथवा साक्ष्य को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। सन्देह अथवा अनिश्चय को पैदा करने वाली परिस्थितियों का मापतोल करते हैं तथा जिधर पल्ला भारी देखते हैं उधर झुक जाते हैं तथापि हमारे विश्वास में उतनी ही कमी रह जाती है जितना कि बल प्रतिवादी के तर्क में पाया जाता है।

८९. प्रस्तुत प्रसंग में साक्ष्यगत विरोध विविध कारणों से उत्पन्न हो सकता है : विरोधी विवरण की उपलब्धि से साक्षी की संख्या या स्वभाव

से साक्ष्य देते समय प्रकट किये हुए हाव-भाव से अथवा इन सब हेतुओं के साक्ष्य से। हमें किसी भी वस्तु के यथातथ्य में संशयात्मक धारणा हो सकती है यदि साक्षिगण परस्पर विरोध प्रकट करते हैं, अथवा वे अत्यन्त अल्पसंख्यक हों, अथवा अविश्वसनीय पात्र हों, अथवा वे अपनी उक्ति में किसी स्वार्थ से प्रेरित हों अथवा साक्ष्य संकोश वश दे रहे हों अथवा अत्यन्त उग्र रूप से असमर्थन या प्रतिज्ञा कर रहे हों। इस प्रकार की अन्य कई बातें हो सकती हैं जो उस तर्क के बल को न्यून या नष्ट कर दें जो मानव साक्ष्य पर आधारित हैं।

उदाहरणार्थ, मान लो कोई वस्तु जो मानव साक्ष्य के द्वारा सिद्ध की जा रही हो अत्यन्त अलौकिक अथवा अद्भुत-सी हो तो मानव साक्ष्य का मूल्य उस वस्तु की असाधारणता के अनुपात से न्यूनाधिक हो जायगा। इतिहासकारों तथा साक्षिगण पर भरोसा रखने का कारण यह नहीं कि उनकी साक्ष्य तथा तात्त्विकता में कार्यकारण रूप कोई सम्बन्ध विशेष है अपितु हमारा वह अभ्यास है जिसने सदा पूर्वतः उनमें एकरूपता पायी है। परन्तु जब वस्तु कोई ऐसी हो जो क्वचित् ही हमारे अनुभव में आयी हो तब तो दो विरुद्ध अनुभवों में द्वन्द्व उपस्थित होगा ही जो अपने-अपने बल के अनुसार एक दूसरे को बाधक सिद्ध होगा। और मानव मस्तिष्क पर वही क्रियाशील होगा जो बलबत्तर होगा। अनुभव का वही नियम जो अन्य वस्तु सम्बन्धी साक्ष्य के विषय में भी होगा और परस्पर विरोध उपस्थित होने पर बलाबल से उनमें तारतम्य निश्चित होगा तथा उनका प्रामाण्य सिद्ध या बाधित होकर रहेगा।

“यदि केटो भी मुझसे स्वयं आकर कहे तो भी मैं इस कथा को सत्य न मानूंगा।” यह रोम में एक प्रचलित वाग्व्यवहार था, उस समय भी जब वह दार्शनिक देशभक्त (केटो) स्वयं जीवित थे। अर्थात् वस्तुगत अलौकिकता के नाते उसका मानार्ह न होना इतने बड़े आप्त के वास्य की प्रमाणता को भी विध्वस्त कर सकता है—यह सर्वदा स्वीकृत है।

एक भारतीय नरेश ने तुषार के प्रभावों के सम्बन्ध में विचार को अस्वीकृत कर विधिवत तर्क जब उपस्थित किया तो स्वाभाविक ही था

कि उसकी मान्यता प्राप्त कराने में बलवत्तम प्रमाण की अपेक्षा हुई हो कारण वह महानुभाव प्रकृति के उस स्वरूप से अनभिज्ञ था जो उसके दैनिक अनुभवों से इतना विरूप प्रतीत होता था। यद्यपि जो बातें उससे कही जा रही थीं वे उसके अनुभव के विपरीत न थीं। परन्तु अनुरूप भी न थी।^१

९०. मगर यह बात तो यह है कि साक्ष्य की प्रमाणता के विरुद्ध सम्भावना को अधिक प्रबल बनाने के हेतु हमें यह मानना होगा कि वह

१. वह सुविदित है कि किसी हिन्दुस्तानी को यह अनुभव नहीं कि पानी शीत देशों में नहीं जमता। यह कहना प्रकृति का ऐसा निरूपण है जिससे वह परिचित नहीं और आपाततः उसका परिणाम क्या होगा वह नहीं कह सकता। वह तो उसके लिए एक नया प्रयोग होगा जिसका फल सर्वदा अनिश्चित है। हाँ, सदृश वस्तुओं के अनुभव से वह अन्वाज्ञा जरूर लगा सकता है कि ऐसी स्थिति में परिणाम क्या होगा, परन्तु उसकी यह धारणा कल्पनामात्र ही होगी। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि पानी के बर्फ बनने की बात तो निश्चय सादृश्य के नियम के विरुद्ध होगी जो कि कोई मतिमान भारतीय सोचेगा भी नहीं। पानी पर शीत का प्रभाव क्रमिक नहीं होता और न वह शीत की मात्रा से ही प्रभावित होता है, परन्तु वह तो एक क्षण भर में ही होता है, कारण जब जल हिम बिन्दु तक पहुँच जाता है तो वह एक ही क्षण में अपने तरल स्वरूप को त्याग कर जड़ीभूत हो जाता है। यह स्थिति निश्चय असाधारण ही कही जा सकती है और उष्णदेश के निवासी को इस बात का विश्वास दिलाने के हेतु प्रबल प्रमाण की आवश्यकता होगी : तथापि यह कोई अद्भुत बात नहीं है और न यह किसी तरह वैसी स्थिति में रहने वाले लोगों की सार्वजनीन प्रतीति के ही प्रतीत है। सुमात्रा के निवासी सदा ही जल को तरल ही देखते हैं और उनकी नदियों का हिमरूप हो जाना तो एक मिथ्योक्ति होगी तथापि शिशिर ऋतु में उन्होंने मुस्कोवी में पानी बहता न पाया होगा। इसीलिए वे कदापि निश्चित रूप से यह कह नहीं सकते कब-कहाँ-कैसा परिणाम होगा।

वस्तु जिसे वे दृढ़ता के साथ उपस्थित करते हैं वह न केवल विस्मयकारी ही है अपितु अद्भुत् एवं अविदित है, और साथ ही यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रस्तुत साक्ष्य को स्वतन्त्र रूप से अथवा तटस्थ भाव से देखा जाय तो वह स्वयं ही प्रमाण बन जायगा और यों प्रमिति के विरुद्ध प्रमिति का सामना करना होगा और उनमें से दृढ़तम प्रमिति ही मानी जायगी तथापि प्रत्येक प्रमिति बिंदुतीय प्रमिति के प्रबलता के अनुपात में ही अपनी क्षीणता प्रकट करेगी।

प्रकृति के नियमों का भंग होना ही अद्भुत् का रहस्य है। परन्तु प्रकृति के नियम दृढ़ एवं ध्रुव सत्यानुभव पर ही आधारित हैं, अतएव अद्भुत् के विरुद्ध प्रमाण को वास्तव में उतना ही पूर्णरूप होना चाहिये जितना कि अनुभव पर आधारित तर्क सम्भवतः पूर्ण माना जाता है। क्यों कर ऐसी बातें केवल संभावना से कहीं अधिक मानी जाती हैं—जैसे सब मानव मर्त्य हैं, सीसा हवा में स्वयं स्थित नहीं रहता, अग्नि काष्ठ को जला देती है, अथवा जल से बुझ जाती है। यह कदापि न होता यदि ये सब बातें प्रकृति के नियमों के अनुसार होने वाली न होतीं। यही कारण है कि उक्त वस्तुओं के अन्यथा होने में इन प्राकृतिक नियमों का भंग होना आवश्यक हो जाता है या यों कहो कि किसी भी अद्भुत के बिना वैसा ही नहीं सकता। कोई भी बात कभी भी अद्भुत नहीं कही जाती जब तक वह प्रकृति के सामान्य निसर्ग के अनुरूप होती रहे। ऊपर स्वस्थ दीखने वाले पुरुष की अचानक मृत्यु हो जाना कोई अद्भुत घटना नहीं कही जाती, कारण, जो यद्यपि वह सामान्य मृत्युओं की अपेक्षा अवश्य असाधारण है तथापि ऐसी अचानक मृत्यु के निदर्शन बहुधा दृष्टिगोचर होते ही रहते हैं। परन्तु यह अवश्य अद्भुत समझा जायगा यदि मृत पुरुष पुनर्जीवित हो जाय कारण ऐसी घटना किसी भी देश अथवा युग में होती नहीं पायी गयी। अतएव यह मानना होगा कि हर अद्भुत् के विषय में एक-सा अनुभव होना आवश्यक है, अन्यथा उस घटना की अद्भुतता ही चरितार्थ न होगी। और चूंकि एक-सा अनुभव प्रमाण का तुल्य होता है, वस्तु स्वरूप के आधार पर निर्धारित यही साक्षात् एवं पूर्ण प्रमाण है जो कि अद्भुत् की सत्ता के विरुद्ध है। ऐसा यह प्रमाण नष्ट

भी नहीं किया जा सकता और अद्भुत को असत्य भी नहीं बताया जा सकता, जब तक उससे अधिक बलवान्^१ प्रमाण विरोध में उपस्थित न किया जाय।

१. कभी-कभी ऐसा अवश्य पाया जाता है कि कोई घटना वास्तव में प्राकृतिक नियम के विरुद्ध न दीख पड़े, और फिर भी यदि वह यथार्थ हो तो वस्तुस्थिति के आधार पर अद्भुत् कही जा सकती है क्योंकि वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध दीखती जरूर है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति दैवी शक्ति से सम्पन्न है यह घोषित करने पर किसी बीमार को वचन मात्र से स्वस्थ कर देता हो, किसी स्वस्थ को रूग्ण बना देता हो, अथवा अचानक मेघों से धारासम्पात वर्षा करा देता हो, पवन को आँधी की तरह बहा देता हो अथवा इसी तरह प्रकृति पर अधिकार जमाये दिखाई देता हो इन सब घटनाओं को अद्भुत् तो कहना ही होगा, कारण वास्तव में ऐसी घटनाएं प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं। यदि वहाँ तनिक भी यह आशंका हो कि उस व्यक्ति का कहना और घटना का होना काकतालीय न्याय से हुआ तो वहाँ फिर अद्भुतता रह नहीं जाती, कारण उसमें तो कहीं प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण हुआ ही नहीं। और यदि ऐसी कोई आशंका न रहे तो अवश्य ही यह घटना अद्भुत् है और वहाँ प्राकृतिक नियम का अतिचार है, कारण इससे अधिक और क्या प्रकृति विरुद्ध हो सकता है कि ऐसी ऐसी घटनाएं किसी भी व्यक्ति की उक्तिमात्र से होने लगे। अतएव 'अद्भुत्' की सही-सही परिभाषा यह बनायी जा सकती है—प्राकृतिक नियमों का वह अतिचार ही अद्भुत् कहा जाता है जो किसी दैवी इच्छा विशेष अथवा अदृष्ट कर्म के व्यापार के फलस्वरूप होता है। अद्भुत् का बोध मानव को हो या न हो—इससे उसके स्वरूप तथा तात्त्विकता में अन्तर नहीं आता। हवा में किला या जहाज को खड़ा करना एक प्रत्यक्ष अद्भुत् है। उसी तरह पंख का आकाश में उड़ना भी उतना ही अद्भुत् है यद्यपि उसका बोध हमें उतना सुस्पष्ट नहीं होता कारण पंख को ऊपर उठाये रखने के लिए पवन की इतनी न्यूनतमशक्ति की अपेक्षा होती है।

९१. अतएव निम्नलिखित निर्णय स्पष्ट है जो ध्यान देने योग्य सामान्य सिद्धान्त है :-

अद्भुत् को प्रमाणित करने के लिए कोई भी साक्ष्य पर्याप्त नहीं कहा जा सकता जब तक वह साक्ष्य ऐसा न हो कि उसकी अयथार्थता यथार्थता की अपेक्षा अधिक विस्मयावह न हो और तब भी अनुकूल और प्रतिकूल तर्कों का परस्पर बोध हो कि अनुकूल तर्क समुचित दृढ़ता एवं बल के साथ प्रतिकूल को उन्मूलित कर हमें अपनी सत्यता का विश्वास दिला देने में समर्थ हो। कारण, जब मुझे यह कोई कहे कि मैंने एक मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित होते देखा तो मैं तुरन्त यही सोचने लगता हूँ कि वह सम्भव मुझे धोखा दे रहा है या स्वयं ही धोखा खा चुका है अथवा जो वह कह रहा वास्तव में हुआ हो। मैं एक अद्भुत् को दूसरे के साथ तोलता हूँ और जिसमें मुझे अधिक बल मिलता है उसे स्वीकार कर अपना निर्णय देता हूँ और सदा अधिक विस्मयकारी वस्तु को स्वीकृत कर देता हूँ। वक्ता द्वारा कथित वस्तु की अपेक्षा उसका मिथ्यात्व कहीं अधिक अद्भुत लगता हो, तब तो वह तभी मेरे विश्वास तथा एकमत्य को प्राप्त करने का दम्भ कर सकता है।

दूसरा भाग

९२. पूर्वभाग में प्रस्तुतवाद में हम यह मानकर चले हैं कि अद्भुत् का आधारभूत प्रमाण सम्भवतः उसकी सत्ता को पूर्णतया सिद्ध कर देने वाला हो और साथ ही साथ यह भी मान लिया कि ऐसे साधक प्रमाण का मिथ्यात्व तो सचमुच विस्मयकारी होगा : तथापि यह बताना सरल होगा कि ऐसी मान्यता कितनी उदार है क्योंकि कोई भी अद्भुत् कदापि ऐसे अवाधित प्रमाण द्वारा साधित नहीं पाया जाता—इसके कारण अनेक हैं :-

प्रथम—समग्र मानव इतिहास में एक भी अद्भुत् ऐसा नहीं पाया जाता जिसके साक्षी पर्याप्त संख्या में ऐसे लोग हों—जो निर्विवाद सुबुद्धि शिक्षा एवं विद्याभ्यास के कारण हमें स्वयं मिथ्याप्रतीति के खतरे से

सुरक्षित रख सकें, जो निस्सन्देह इतने प्रामाणिक हों कि वे दूसरों को कभी वंचित करने का व्यूह रच सकने की आशंका से परे हों, जो जनता की दृष्टि में इतने विश्वसनीय एवं सम्मानित हों कि उनकी मिथ्या भाषिता प्रकट होने पर उन्हें भीषण क्षति होने का भय हो और साथ ही साथ जो अपने साक्ष्य को संसार के किसी सुप्रसिद्ध स्थान पर जनसामान्य के समक्ष इतने प्रकट रूप से देते हों कि मिथ्यात्व का उद्घाटन हुए बिना रह न सकता हो—ये सब बातें मानव साक्ष्य के सम्बन्ध में परम आवश्यक हैं यदि वह साक्ष्य हमें पूर्णरूप से विश्वास दिलाना चाहता हो।

द्वितीय—यदि सूक्ष्म आलोचना की जाय तो हमें मानव निसर्ग में एक ऐसा तत्व दीख पड़ता है जो हमारे विश्वास को किसी भी अद्भुत् की सत्ता के सम्बन्ध में सदा क्षीण करता रहता है। किसी भी तर्क में प्रवेश करते हुए हम एक सिद्धान्त का अवलम्बन करते हैं और वह यह है कि अनुभूत वस्तु प्रायः अनुभूत पदार्थों के साथ साम्य रखती हुई प्रतीत होती हैं और जिसे हमने अधिकतर होते पाया है वही सर्वाधिक सम्भावित ही मानी जाती है और जहाँ कहीं विरोधी तर्क सामने उठ खड़े होते हों तो हम उसी पक्ष को अधिक मान्यता देते हैं जो हमारे अधिकतर पूर्वानुभूतियों पर आधारित होता है।

तथापि—हम उक्त सिद्धान्त पर चलते हुए किसी भी अनहोनी, अविश्वास्य घटना की सत्ता को तुरन्त अस्वीकृत कर देते हैं, परन्तु आगे चलकर मस्तिष्क इसी सिद्धान्त का सदा अनुसरण करता हुआ मालूम नहीं पड़ता और जब कोई भी बात अत्यन्त अद्भुत् तथा तर्क से अप्रतिष्ठित कह बैठता है और दृढ़ता के साथ उसकी सच्चाई पर बल देता रहता है तो हमारा मस्तिष्क ठीक उन्हीं आधार पर उसे स्वीकृत कर लेता है जो वास्तव में उसकी अप्रामाणिकता के साधन होने चाहिए। विस्मय अथवा चमत्कार की भावना जो अद्भुत् से जनित होती है वास्तव में मनोहर भाव हैं जो उस धारणा में विश्वास उत्पन्न करते और चेतना को जागृत करते हैं और यह भावना इतनी उत्कट हो जाती है कि तत्काल इसका आनन्द न ले सकने वाले व्यक्ति भी वैसी सुनी हुई अद्भुत् वस्तु या घटना में

विश्वास न रखते हुए भी परम्परागत अथवा प्रतिक्रिया जनित सन्तोष में संविभागी बनना पसन्द करते हैं तथा इतर जनों की प्रशंसा को उद्दीपित करने में गर्व एवं आह्लाद का अनुभव करते हैं। किस लालसा के साथ हम यात्रियों के अद्भुत अनुभवों को सुनते हैं, उनके द्वारा दिये हुए समुद्र और भू पर व्याप्त भूत-प्रेतों के विवरणों तथा उनके चमत्कृत कर देने वाले साहसों और विचित्र मानवों और उनके अजीब रहन-सहन की कथाओं को किस उत्कण्ठा के साथ हम श्रवण करते हैं और यदि चमत्कार-प्रेम के साथ-साथ धार्मिक भाव भी जोड़ दिया जाय तो फिर तो बुद्धि सामान्य की इतिश्री हो ही जाती है और ऐसी अवस्था में मानवसाक्ष्य तो प्रामाणिकता के दम्भ के कोसों दूर हट जाता है। एक धर्मवादी कहीं उत्साही प्रचारक होकर ऐसी भी बातें देखने लगता है जिनमें कोई भी तथ्य न हो, वह स्वयं भी जानता हो कि जिसका विवरण वह दे रहा है बिलकुल मिथ्या है और फिर भी वह दुनिया भर की सभी भावनाओं के साथ उसी विवरण को देने में धीरता के साथ अग्रसर होता तो क्योंकि वह मानता है कि ऐसा करने से वह किसी पवित्र लक्ष्य की साधना कर रहा है। अथवा कहीं इस मिथ्याप्रतीति स्थान न पाकर भी उसके हृदय में कहीं ऐसा मिथ्या गर्व छा गया हो जो उसे ऐसा प्रलोभित कर रहा हो जैसा और किसी को वैसी ही स्थिति में करने में असमर्थ हो। इसी भावना के साथ कहीं स्वार्थ सिद्धि के भाव भी बराबरी का बल लिये हो उसे प्रोत्साहित करते हों। उसके श्रोतागण में कहीं उतनी क्षमता स्वयं निर्णय करने की न हो जो उसकी साक्ष्य को आच्छादित कर दे अथवा अपनी निर्णयात्मिका बुद्धि को इतने गम्भीर एवं उदात्त विषय में लगाना पसन्द ही न करते हों, अथवा वे अपनी बुद्धि को लगाने के लिए इच्छुक भी हो जायें तो भी कहीं ऐसा भी हो सकता है कि वक्ता अथवा श्रोता के प्रबल मनोभाव तथा कल्पना शक्ति अपनी बुद्धि की व्यवस्थित क्रिया को अस्त-व्यस्त कर दें। उनका भोलापन अथवा आशुग्राहिता वक्ता के वैयात्य को बढ़ावा देता है और उसका वह वैयात्य श्रोताओं की आशुग्राहिता पर अपना अधिकार जमा लेता है।

वक्तृत्व जब अपने सर्वोच्च स्वस्थ होती है तो वह श्रोताओं की

बुद्धि तथा विमर्श के लिए कोई अवकाश नहीं देती, परन्तु अपने प्रभाव, अपनी कल्पना की क्षमता से अनुरक्त श्रोताओं को आकृष्ट कर उनके विवेक को परास्त कर देती है। भाग्य की बात है वक्तृत्व का ऐसा उत्कट प्रवाह कभी-कभी ही पाया जाता है। परन्तु जो प्रभाव टुली अथवा डि डिमोस्थनीज़ अपने रोमन अथवा ग्रीक श्रोताओं पर क्वचित् डाल सके वह हर केपूशिन अथवा भ्रमणशील उपदेशक अथवा स्थानीय अध्यापक जन सामान्य पर प्रभाव डालने में समर्थ हो जाता है और विशेष कर तब और भी अधिक जब वह श्रोताओं के स्थूल तथा ग्राम्य भावों को उत्तेजित करने लगता है।

कल्पित आश्चर्य, भवियोक्ति अथवा अन्य कई प्रकार की अतिमानुष घटनाओं के कई ऐसे निदर्शन हर युग में देखे गये हैं जिनका मिथ्यात्व विरोधी साक्ष्य पाकर अथवा स्वगत अनौचित्य के कारण स्वयं प्रकट हो गया जिससे यह भी स्फुट हुआ कि मानव का अन्तःकरण प्रायः ऐसी विस्मयावह वस्तुओं के प्रति सदा सशंक बना रहता है। यही प्रायः हमारा विचारक्रम प्रतीत होता है जो सर्वसाधारण तथा विश्वासी विषयों में भी अपना स्थान स्वतंत्र रखता है—उदाहरणार्थ, ऐसी कोई भी सूचना अथवा विवरण नहीं है जो जन सामान्य में, खासकर ग्रामीण वर्ग में इतनी तेजी के साथ तथा सर्वत्र फैल जाती हो जितनी कि एक वैवाहिक घटना—यहाँ तक कि चाहे दो समवयस्क तथा सम अवस्था के व्यक्ति परस्पर दो बार भी नहीं मिले हों परन्तु सारे पड़ोसी उन दोनों को तुरन्त ही एक सम्बन्ध में जोड़ देते हैं। किसी भी रोचक समाचार को देने का आनन्द, उसके प्रसार में अभिरुचि तथा सूचना देने में अहमहमिका तुरन्त ही ऐसे समाचार को सर्वत्र फैला देती है। और इस नैसर्गिक प्रवृत्ति से जनता इतनी परिचित है कि ऐसी किवदन्ति पर तब तक कोई भी समझदार व्यक्ति विश्वास नहीं करता जब तक उसकी सत्यता अन्ततः भी प्रमाणित नही हो जाती। तो फिर क्या यही भावनाएँ अथवा इनसे भी तीव्र भावनाएँ मानव को धार्मिक आश्चर्यों को प्रसारित करने में तथा उन पर विश्वास करने में अधिक दृढ़ता के साथ उत्तेजित नहीं करती?

९४. तीसरी बात— अतिप्राकृतिक तथा विस्मयकारी सम्बन्धों के

विरुद्ध पूर्वगत होने का एक दृढ़तर कारण यह भी होता है कि उनकी मान्यता अधिकांश मूढ़ एवं असभ्य वर्ग में अधिक पायी जाती है। यदि उनका प्रसार सुसभ्य वर्ग में कहीं हो गया हो, तो भी यह देखा गया है कि उनका उद्गम प्रायः अपठित तथा अपरिष्कृत उनके पूर्वजों द्वारा ही विचार रुढ़ि के रूप में उन्हें प्राप्त हुए हैं और जिन्हें उन पूर्वजों ने अकास्थ प्रामाणिकता का आधार दे दिया है। यदि हम समस्त मानव जातियों के प्राचीन इतिहास को देखें तो एक बार हम भी एक नयी दुनिया में जा पहुँचते हैं जहाँ निसर्ग का स्वरूप जर्जर-सा पाया जाता है और जहाँ हर भौतिक तत्व किसी अजनबी तरीके से ही अपना परिणाम दिखाता रहता है। युद्ध, विद्रोह, उपद्रव, दुर्भिक्ष तथा अपमृत्यु कदापि उन निमित्तों से प्रादुर्भूत होते नहीं दीखते जिनका अनुभव हम आजकल करते पाये जाते हैं। शकुन, दिव्यवाणी, तथा आदिदैविक निर्णय सदा ही प्राकृतिक घटना क्रम को भुलाये देते हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों हम अधिक अभिज्ञ युग में घुसते हैं त्यों-त्यों हमें प्रकट होता है कि वहाँ न कोई अतिप्राकृतिक सम्बन्ध है और न कोई गूढ़। वास्तव में उनके पीछे केवल एक ही वस्तु है कि मानव की अद्भुत और साहसिक रुचि, जो समय-समय पर शिक्षा तथा बुद्धि द्वारा प्रतिरोध पाने पर भी मानव हृदय पटल से अपास्त नहीं हो पाती। कोई भी विवेकी पाठक ऐसी चमत्कारी घटनाओं का विवरण पढ़कर यही कहेगा कि 'यह एक अद्भुत बात है कि ऐसी विचित्र घटनाएं हमारे युग में नहीं होती हैं।' परन्तु वास्तव में यह कोई अजनबी बात नहीं — मैं समझता हूँ कि मानव हर युग में झूठ कह सकता है। तुमने मानव की इस दुर्बलता के कई निदर्शन पाये होंगे। तुमने स्वयं भी ऐसी विचित्र घटनाओं के विवरण सुने होंगे जिन्हें सभी समझदार विवेकशील पुरुषों ने परिहेय माने और अन्ततः जिन्हें ग्रामीण प्राकृतजन ने भी आगे चलकर अस्वीकृत कर दिया। सच मानिये—ये प्रचलित झूठ जो भी इतना प्रसार पा चुके सभी इसी तरह चल पड़े थे परन्तु जब उन्हें समुचित घरातल प्राप्त हुआ तब वे स्वयं भी उसी तरह अंकुरित हुए जैसी वे घटनाएं जिनका विवरण वे झूठी-झूठी बातें किया करती हैं।

उस दाम्भिक पैगम्बर अलेक्जण्डर की यह एक चतुर नीति थी कि

उसने अपने ढोंग को सबसे पहिले पेफ्लोगोनियां में रचा जहाँ लूशियन के कथनानुसार सब ही लोग महामूढ़ तथा वज्रमूर्ख थे, जो किसी भी गप्प को सही मान लेते थे। कारण, दूर की जनता सदा उन बातों को सत्य मान लेती है जिन्हें विचारणीय वस्तुओं के सम्बन्ध में भी कोई नयी बात जानने के तथा सचाई को परखने के साधन उपलब्ध नहीं होते। उनके पास तो कथाएं उड़ती-उड़ती सौ गुने विचित्र रूप को धारण करती हुई पहुंचती हैं। और मूर्ख लोग सदा ही ढोंग की बातों की जड़ जमाने में प्रयत्नशील रहते हैं जब कि विवेकी उन्हीं सब बातों को निर्मूल तथा अज्ञानमूलक सिद्ध करने में ही सन्तुष्ट रहते हैं और वे कभी भी उन परिस्थितियों से परिचित भी होना नहीं चाहते जो इन झूठी बातों की अवास्तविकता को प्रमाणित कर दें। इसी तरह ऊपर बताये हुए ढोंगी ने अपने अनुयायी वर्ग की संख्या बढ़ाते-बढ़ाते पेफ्लोगोनिया से आगे बढ़कर इतना ही नहीं कई ग्रीक दार्शनिकों को ही अपने वर्ग में सम्मिलित कर लिया हो, वरन् उसने मार्क्स आरिलस जैसे सम्राट् का भी ध्यान अपनी ओर खींचा है—यहाँ तक कि अपनी झूठी भविष्यवाणी के द्वारा उसने सम्राट् को किसी सैनिक अभियान की सफलता में भी विश्वास करवा दिया।

अज्ञ जनता में ढोंग फैलाने के लाभ इतने अधिक हैं कि वे दम्भ क्यों न इतने स्थूल हों कि वे सकल जनसमुदाय पर मले अपनी छाप बैठाने में असमर्थ हों। जो भी, ऐसा भी क्वचित् ही होता है। तथापि दूरवर्ती प्रदेशों में तो वे सफलता पूर्वक चल ही पड़ते हैं—शायद किसी ऐसे नगर में जहाँ कला और ज्ञान का प्रसार अधिक हो वहाँ इन ढोंगों का प्रथम दर्शन कहीं इतना सफल न हो सके। अतिमूढ़ जन ही सबसे पहिले ऐसी ढोंगी चमत्कारों की कहानियों को दूर-दूर तक ले जाते हैं, कारण वे अपने समाज के लोगों में प्रतिवाद करने की क्षमता ही नहीं पाते चूँकि न उनके पास संवाद पाने का अवसर है और न इतनी सत्ता कि वे किसी तरह प्रतिवाद कर सकें। अद्भुत की ओर मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति सदा ही अपने प्रसार के लिए अवसर देखती ही रहती है। और इसीलिए कोई भी चर्चा जो किसी भी स्थान पर सर्वमान्य बन जाती हो अवश्य ही हजारों

कोस तक फैलती जाती है। सिकन्दर यदि अपना निवास एथेन्स में रखता तो तुरन्त ही सारे रोमन साम्राज्य में वहाँ की बुद्धिमती जनता उसके दम्भों के सम्बन्ध में अपने अभिप्रायः को प्रसारित कर देती और उनकी तर्क तथा वादविवाद की शक्ति सहज ही जनता की आँख खोल देती। यह सच है, कारण संयोगवश पेफ्लोगोनियां से गुजरते हुए लूशियन ऐसे लोकोपकारी काम करने का अवसर पा गया। तथापि चाहे कितना ही यह वांछनीय क्यों न हो—हर अलेक्जेंडर को लूशियन नहीं मिलता जो दाम्भिक की मिथ्या संस्तुतियों की वास्तविकता पर प्रकाश डाल दे।

९४. और एक मैं चौथा कारण भी बताता हूँ जो अद्भुत् की प्रामाणिकता का बेड़ा गर्क कर दे। वह यह है—किसी भी अद्भुत् के लिए कही प्रमाण नहीं मिलता—वैसे अद्भुत् के लिए भी नहीं जिसकी पहिचान स्पष्टतः न हो पायी हो अथवा जिसका विरोध असंख्य दर्शकों द्वारा न किया गया हो। इस युक्ति को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यह सोचें कि धर्म के मामले में जो भी कुछ भिन्न हो तो वह विरुद्ध समझा जाता है—और प्राचीन रोम, तुर्क, स्याम, चीन आदि सब के धर्म किसी ठोस आधार पर सिद्ध किये गये हों। तो फिर कोई भी अद्भुत् जो इनमें से किसी भी धर्म के द्वारा प्रस्तुत किया गया हो। जैसा हर धर्म में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। साक्षार्द्रूप से अपनी-अपनी मान्यता एवं दर्शन को सिद्ध करने का लक्ष्य रखते हैं। जिसका परिणाम यह होगा कि हर धर्म दूसरे को उखाड़ फेंकने का सामर्थ्य अवश्य रखेगा ही। किसी भी विपक्षी सिद्धान्त को खण्डित करने की चेष्टा में वह उन अद्भुत् मान्यताओं को भी उन्मूलित कर देगा जिस पर उनका सारा सिद्धान्त आधारित है। फल यह होगा कि प्रत्येक विभिन्न धर्मों की अद्भुत् मान्यताएं परस्पर विरुद्ध मानी जायेंगी और उनका साक्ष्य चाहे सबल हो अथवा दुर्बल—एक दूसरे की खण्डन करती रहेंगी। इस तार्किक प्रणाली के अनुसार तो जब हम मोहम्मद या उनके वंशज के सम्बन्ध किसी अद्भुत् चरित में विश्वास करने जाँय तो हमें कुछ बर्बर अरबीयों के शब्दों को प्रमाण मानना होगा, दूसरे पक्ष में हमें टिटसलिहियस, टेसिरस आदि को भी प्रमाण मानना

ही होगा और इस तरह ग्रीस के, चीन के अथवा रोमन कैथलिक के सभी लेखक अथवा विचारकों को प्रमाण मानना पड़ेगा जिन-जिनने उस उस धर्म विशेष में जो अद्भुत कहा-सुना होगा—कहने का तात्पर्य है कि उन विचारकों को उतना ही प्रमाण मानना होगा जितना कि मोहम्मद से अद्भुत् को, साथ ही साथ उसका खण्डन भी उतने ही प्रबल प्रमाण से किया जा सकता है जितना कि किसी भी अद्भुत् वर्णन को। हमारा यह तर्क कुछ सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी क्यों न प्रतीत हो—परन्तु वास्तव में यह किसी भी न्यायाधीश के तर्क से भिन्न नहीं है जहां किसी भी अपराध को सिद्ध करने वाले दो गवाहदारों की शाहदत दूसरे दो गवाहों के कथन से छिन्न-भिन्न हो जाती है जो यह कहें कि आरोपी अपराध के उक्त स्थान से २०० मील कहीं दूर था। लौकिक ऐतिह्य में सबसे अधिक प्रमाणित अद्भुत् की एक कथा है जो व्हेस्पेसियन के विषय में टेसिटस द्वारा कथित है। कहा जाता है कि 'व्हेस्पेसियन ने अलेक्जेंड्रिया के किसी अन्धे को अपने को थूक से दुरुस्त कर दिया था और एक लंगड़े को अपनी लात से अच्छा कर दिया था। इस सम्बन्ध में सेरपिसदेव ने स्वप्न दिया था कि वे बीमार सम्राट् के पास इस अद्भुत उपचार के लिए शरण लें।' इस सन्दर्भ का उल्लेख उस भव्य इतिहासकार ने किया है। इस कहानी में हर परिस्थिति प्रमाण को दृढ़ करने वाली है और तर्क तथा वाग्विभव के सम्पूर्ण बल के साथ वह पुरस्कृत है यदि कोई मूर्तिवादी इस अन्ध विश्वास को प्रमाण द्वारा पुष्ट करना चाहता हो। इतने सुप्रतिष्ठित महान सम्राट् की गम्भीरता, दृढ़ता, आयु एवं अप्तता इतनी अधिक है कि उसने सारे जीवन अपने मित्रों तथा सभासदों के साथ परम मैत्री के साथ व्यवहार किया तथा अनौपचारिक वार्त्तालाप किया और कभी भी एलेक्जेंडर और डिमेट्रियस की भांति देवस्वरूप होने का दम्भ नहीं किया। उक्त सम्राट् का समसामयिक वह इतिहासकार भी अपनी सत्यवादिता तथा स्पष्टोक्ति के लिए सुविख्यात है और साथ ही साथ उस युग का माना हुआ सर्वोत्तम प्रतिभाशाली एवं सूक्ष्मदर्शी विद्वान् है। आशुग्राहिता से वह इतना दूर है कि जनता सदा उस पर नास्तिकता एवं अर्धमिष्ठता का आरोप लगाती रही। जिन लोगों की उक्ति के आधार पर उसने अपने इतिहास में इस

अद्भुत कथा का वर्णन किया है वे भी अपनी तथ्यवादिता एवं निर्णयात्मक बुद्धि के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त हैं और हम यह भी मान सकते हैं कि सम्भवतः उन्होंने उक्त घटना का स्वयं साक्षात्कार भी किया हो। इस अद्भुत कहानी की सत्यता को उन्होंने तब भी प्रमाणित किया जब कि श्री फ्लेबिन को मिथ्या भाषण के अपराध पर सपरिवार राज्य से निर्वासन कर दिया गया था। “यदि किसी ने भी सत्य में हेर-फेर की, अथवा स्मरण में भी कुछ और बताया तो पश्चात् कुछ भी कहना उसे अन्यथा लाने को समर्थ न होगा।” और यदि हम वस्तुस्थिति के अनुसार उक्त कथानक में जनता की प्रकृति का भी सहारा जोड़ दें तो यह स्पष्ट है कि इतनी बड़ी में सुस्पष्ट झूठ के लिए सत्यता को प्रमाणित करने वाला साक्ष्य इससे अधिक प्रबल कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता।

इसी प्रकार रेट्ज के कार्डिनल के द्वारा कथित एक और उल्लेखनीय कहानी है जिस पर भी हम कुछ विचार कर लें—जब वह कपटपटु कूटनीतिज्ञ अपने शत्रु से वचकर स्पेन को भागा तो वह अरेगांव की राजधानी सारागोसा से गुजरा। वहाँ एक गिरजाघर में उसकी किसी आदमी से भेंट हुई जो वहाँ सात साल से द्वारपाल का काम करता था और जिसे वहाँ आराधना करने के लिए एक बार आया हुआ भक्त भी जानता था। जमाने भर से वह एक पैर बिना ही देखा गया था परन्तु वह अपने डूढ़े पैर पर एक पवित्र तैल की मालिश करने से अच्छा हो गया था और कार्डिनल महोदय हमें विश्वास दिलाते हैं कि उन्होंने स्वयं उसे दो पैर वाला देखा था। यह अद्भुत घटना उस गिरजाघर के सब अधिकारियों द्वारा सत्य बतायी जाती है, नगर निवासी सकल जनता को उक्त घटना की सत्यता प्रमाणित करने को जब कार्डिनल ने कहा तो उसे पता चला कि सारी जनता बड़े उत्साहपूर्ण भक्तिभाव से उक्त अद्भुत घटना को परिपूर्ण विश्वास से देखती थी। इस कथा का आख्याता भी घटना का समकालीन है तथा स्वतंत्र विचार का होकर बिल्कुल आशुग्राही नहीं है, साथ ही साथ वह माना हुआ विवेकी विद्वान् भी है। और यह अद्भुत भी इस प्रकार का है कि उसकी नकल होना सम्भव नहीं, गवाह भी अनगिनती हैं जिनमें लगभग सभी ने उसे एक तरह से साक्षात् देखा है—

ये सब बातें सबूत में पेश हैं। और इस घटना के साक्ष्य के सम्बन्ध में एक और अधिक प्रबल हेतु वह है जो हमारा विस्मय प्रस्तुत कथा के सम्बन्ध में द्विगुण कर देता है—कार्डिनल को स्वयं कथा कहने वाला, उस कहानी पर विश्वास करता नहीं दीखता था जिससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह इस गप्प को उड़ाने में किसी तरह शरीक था। वह ठीक ही मानता था कि इस प्रकार की घटनाओं का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए आवश्यक नहीं कि उपलब्ध प्रमाण हर तरह बाधित ही किये जाय और न यही आवश्यक है यह जाना जाय कि उस मिथ्यात्व का उद्गम कहाँ से और उस कथा के निर्माण एवं प्रस्तर में किसकी शठता अथवा भोलापन उत्तरदायी है। वह यह भी समझता था कि ऐसी गवेषणा थोड़े समय एवं स्थान के दौरान में करना असम्भव है और साथ ही साथ उतना ही दुःसाध्य है जहाँ तत्काल पहुँचा हुआ एक व्यक्ति उस समाज में ऐसा कहाँ जब अधिकतर जनता धर्मान्धता, अज्ञता अथवा कुटिलता एवं शठता से अनुप्राणित हो। ऐसी स्थिति में एक योग्य विचारक के नाते उसने यही निर्णय किया कि सारा साक्ष्य उक्त घटना के सम्बन्ध में स्वरूपतः असत्यता को लिये हुए है और लोकोक्ति के आधार पर प्रचलित ऐसी अद्भुत वस्तुएँ वास्तव में उपेक्षा के विषय में हैं, तर्क के नहीं।

किसी भी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली अद्भुत चर्चाओं का वैसा विषय शायद ही कहीं और हो जैसा हाल ही फ्रांस में ऊव्वी पेरिस नामक प्रसिद्ध जन से नीरो की कब्र के बारे में कही जाती है तथा जिसकी पवित्रता के बारे में जनता युगों तक धोखे में रही। बीमार का अच्छा होना, बहिरे को कान और अन्धे को आँख मिल जाना उस कब्र का यह प्रभाव तो जन-जन के मुँह पर था। सबसे अधिक अनहोनी बात तो यह थी कि इस तरह की कई अद्भुत बातें तो वहीं की वहीं ऐसे निरीक्षकों की उपस्थिति में प्रमाणित कर दी जाती थीं जिनकी प्रमाणिकता निःसन्देह मानी जाती और उसकी पुष्टि के लिए ऐसे साक्षी भी मिल जाते जिन पर जनता का विश्वास अटल होता था। यह घटनाएं उस सुशिक्षित युग की हैं जहाँ आज भी विश्व का सबसे बड़ा प्रेक्षागृह स्थित है। इतना ही सब कुछ नहीं, इस सम्बन्ध में इश्तिहार छापे गये और सब दूर बाँटे गये—

जैसे सुइड पादरियों जैसा सुशिक्षित समाज—जो ऐसी दन्तकथाओं का जानी दुश्मन था एवं जिनकी ओर सदा ही न्यायालय का भी पक्ष रहता था—भी इन अद्भुत बातों का न तो खण्डन ही कर सका और न उसकी अस-लियत को ही पहिचान पाया। हमें एक वस्तु को सिद्ध करने वाली इतनी बातें और कहाँ मिल सकती हैं? और हमें इतने साक्षियों के घने आवरण का विरोध कर क्या करना है? हमें उनके द्वारा तथाकथित अद्भुत घटनाओं की एकदम असम्भाव्यता प्रमाणित करनी है और वह सारे समझदार पुरुषों की दृष्टि में तो अवश्य ही पर्याप्त खण्डन माना जायगा।

९५. क्या कोई भी परिणाम इतने से सुसंगत कहा जा सकता है? क्योंकि फिलिपी अथवा फारसालिया के युद्ध जैसी कतिपय घटनाओं के लिए हमें कुछ पात्र प्रबल प्रमाण के रूप में मानव साक्ष्य उपलब्ध है? एक घटना के लिए प्रबल प्रमाण यदि मिल जाय तो क्या उस जैसी सब घटनाएं ही यथार्थ हैं यह मान लिया जाय? मान लो सीजर और पाम्पिआई के दल अपनी-अपनी जीत रक्षा क्षेत्र में घोषित करते हों और इतिहासकार भी अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हुए उस तीर की प्रतिष्ठा के वर्धक वर्णन करते हों तो परवर्ती मानव समाज किस तरह वास्तविकता को पहिचानने में समर्थ हो सकेगा? उसी तरह हिरोडोटस और प्लूटार्क द्वारा वर्णित अद्भुत कथाओं में तथा मेरियाना, बीडी अथवा अन्य किसी भी मठानुयायी इतिहासकार के उपकथन में उतना ही प्रबल परस्पर विरोध उपलब्ध है।

समझदार लोग तो हर संवाददाता की रुचि के अनुकूल दी हुई वर्णना पर सदा ग्रन्थवत् विश्वास कर लेने को उद्यत रहते हैं चाहे वह वर्णन अपने देश, कुल अथवा व्यक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर रंग दे अथवा किसी भी तरह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अथवा प्रेरणाओं से अनुप्राणित ही क्यों न हो। इस लोक में इससे अधिक वांछनीय क्या हो सकता है कि एक पुरुष घर्मोपदेशक अथवा पैगम्बर या स्वर्ग से उतरा हुआ देवदूत समझा जाय? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इस सम्मानित उदार पद को पाने के लिए किसी भी संकट या विपत्ति का सामना करने को उद्यत न हो। अथवा कहीं आत्मा सम्बन्धी वृथाभिमान और उत्साहपूर्ण कल्पनामात्र

से चाहे पुरुष अपने आप को परिवर्तित करके और गंभीर भाव के साथ आत्मवंचना में प्रवण हो जाय—कारण—ऐसे पवित्र तथा पुण्य कार्य को पुरस्कृत करने के हेतु पुनीत पूतारणाएँ करने में भला किसे संकोच हुआ करता है ?

एक छोटी-सी चिनगारी बड़ी ज्वाला को प्रज्ज्वलित कर सकती है, क्योंकि सामग्री सदा उपलब्ध रहती ही है।' जनता सदा ही सुनी हुई बात को प्रमाण मान लेती है—^१ सुकरात की यह उक्ति सत्य ही है—कारण तमाशबीन जनता वगैर जाँच पड़ताल के हमेशा वैसी सब बातों को बड़े चाव से ग्रहण कर लेती है जो किसी भी अन्ध विश्वास या बहम को पुट देती हो अथवा किसी भी अजीब गप्प को फैलाती हो।

इस प्रकार के कितने किस्से हर युग में प्रचलित हुए और शुरू-शुरू में ही उनकी कलई खुल गयी और वे रफू हो गये। और कितने ही कुछ अरसे तक चलते रहे परन्तु सहसा ऐसे डूबे कि उनकी कोई याद भी नहीं करता, न कोई चर्चा। अतएव क्योंकि ऐसी बातें उड़ जाती हैं—इस वस्तु का रहस्य स्पष्ट ही है। हम अपने सतत् अनुभव तथा निरीक्षण के अनुकूल ही इन सब बातों का उत्तर दिया करते हैं और उनका मूल जनता के सहज भोलेपन और मिथ्याग्रह की प्रवृत्तियों में है यह हम समझ लेते हैं। तो क्या हम ऐसी स्थिति में इस सीधे-सादे उत्तर को स्वीकार लें और प्रकृति के सुतरां सिद्ध नियमों की विचित्र अवहेलना को भी चलने दें ?

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि झूठ को पकड़ने में कितनी कठिनाई होती है—चाहे वह व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक इतिवृत्त के सम्बन्ध में हो, और चाहे वह हाल ही उसी स्थल पर भी क्यों न घटित हुआ हो—वह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है जब कि घटना देश और काल में कुछ भी दूर हो। न्यायालय भी, जिसके पास सकल सत्ता साधन और सही-सही जाँच और निर्णय के पूर्ण उपकरण विद्यमान होते हैं, बहुधा तात्कालिक घटनाओं के सत्यासत्य की परीक्षा में आकुल हो

उठते हैं। परन्तु जब उड़ती हुई खबरों और चलती हुई बहस और झूट-सच की मिलावट के मामूली तरीकों पर विश्वास रख जनता इन अजीब बातों को सही मान लेती है तब तो वह विषय विवाद का मूल ही नहीं रह जाता, विशेषकर उस अवस्था में जब जनसमुदाय की मनोवृत्तियाँ किसी भी एक पक्ष की ओर झुकने लग जाती हैं।

नवीन सम्प्रदाय के शैशवकाल में समझदार पण्डित-समाज भी सामान्यतः उस वस्तु को विचार के सर्वथा समझकर उस ओर कोई ध्यान या महत्व नहीं देते। और आगे चलकर जब वह उस वंचना को पहिचानने तथा प्रतारित जनसमूह की आँख खोलने के लिए उद्यत भी हो तो क्या ? जब मौसम गुजर चुका और वे सन्दर्भ तथा साक्ष्य सर्वदा के लिए लुप्त हो गये। उस अवस्था में झूठ को पकड़ने के कोई भी साधन नहीं बचते सिवाय उसके प्रचारकों के एकमात्र साक्ष्य के। और जो भी कुछ सामग्री अवशेष रह जाती है वह सूक्ष्मदर्शी विवेकियों के लिए चाहे पर्याप्त हो परन्तु प्राकृत जनसामान्य के बुद्धिगम्य होना नितान्त असम्भव होता है।

९८. निष्कर्ष यह है कि किसी भी तरह के अद्भुत् को सम्भाव्यता की भी कोटि तक पहुँचा देने वाला कोई प्रमाण रह नहीं जाता, उसे सिद्ध कर देने वाले अबाध प्रमाण की तो कमी ही क्या। मान लिया जाय कि कोई साधक प्रमाण कहीं मिल भी जाय तो तुरन्त ही उसका बाधक प्रमाण भी उपस्थित हो ही जाता है जो उसी सामग्री पर आधारित हो जो साधक प्रमाण का आधार रहा है। यह तो ध्रुव सत्य है कि मानव साक्ष्य की प्रामाणिकता का आधार केवल अनुभव है, और यही अनुभव हमें प्राकृतिक नियमों की सत्ता में विश्वास उत्पन्न कराता है। अतएव ऐसी स्थिति में जब एक वस्तु के सम्बन्ध में हमें दो अनुभव होने लगते हैं तो हमें एक को दूसरे अनुभव से घटाकर उसी ओर झुकना पड़ता है जिस ओर कुछ शेष बचता हुआ दीख पड़े। परन्तु उक्त सिद्धान्त के अनुसार सकल लोकप्रिय सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विरोधी अनुभवों में व्यवकलन का न्याय लगाने पर शेष शून्य ही रह जाता है। अतएव हम इस सिद्धान्त के रूप में स्वीकृति कर सकते हैं कि कोई भी मानव साक्ष्य किसी भी

अद्भुत को प्रमाणित करने की सामर्थ्य नहीं रखता और न वह किसी भी सम्प्रदाय का वास्तविक मूलाधार ही बन सकता।

९९. यहां यह कह देना उचित होगा कि 'अद्भुत असाध्य है और किसी भी सम्प्रदाय का आधार होना असम्भाव्य है—इस सिद्धान्त के कतिपय अपवाद अवश्य हो सकते हैं—यथा—यह मैं मानता हूँ कि प्राकृतिक नियमों के भंग अथवा अद्भुत घटनाएं कुछ अवश्य हो सकती हैं जिसकी सत्यता मानव साक्ष्य के आधार पर प्रमाणित हो जाय, जो भी ऐसे सन्दर्भों का उल्लेख इतिहास में मिलना एक बिल्कुल असम्भव सी बात है। उदाहरणार्थ—मान लो कि समस्त भाषाओं में ग्रन्थकारों ने यह लिखा हो कि सन् १६०० की पहिली जनवरी के दिन से आठ दिन तक सकल मही मण्डल पर सर्वतः अंधकार छाया रहा और मान लो इस अप्राकृतिक घटना के सम्बन्ध में पारस्परिक जनश्रुति भी इतनी जोर की प्रचलित हो और सब देश-देशान्तर से लौटे हुए यात्री भी वही गाथा कहते हों जिसमें तनिक भी अन्तर या विरोध नहीं पाया जाता हो तो स्पष्ट ही है कि आज के विचारक उक्त घटना की सत्यता में शंका करने की अपेक्षा उसे यथावत् ग्रहण कर' यह अन्धकार क्यों कर हुआ'—इसके कारणों का अन्वेषण करने में अवश्य जुट जायंगे। कई अन्यान्य घटनाओं के सादृश्य पर प्रकृति में ह्रास, विकृति अथवा लय की सम्भावना हो सकती है और कोई भी घटना जो इस प्राकृतिक विपत्ति की ओर झुकाव दिखाती हो वह मानव प्रमाण के द्वारा प्रमेय कोटि में आ सकती है यदि वह साधक प्रमाण व्यापक एवं अव्यभिचरित पाया जाय।

परन्तु मान लो इंग्लैण्ड के सभी इतिहासकार एकमत हो जाय कि महारानी एलिजाबेथ का देहावसान सन् १९०० ईसवी की पहिली जनवरी को हुआ था और उसकी मृत्यु के पूर्व एवं पश्चात् राजवैद्यों ने एवं उसके सभासदों तथा आप्त स्वजनों ने उसे देखा था, पार्लियामेंट के द्वारा उसका उत्तराधिकारी भी घोषित हो चुका था, इसके उपरान्त दफ्नाने के एक माह बाद, वह फिर नजर आयी अपनी गद्दी सम्हाली और इंग्लैण्ड पर तीन वर्ष तक यथापूर्व शासन किया—तो मुझे यह कहना होगा कि सकल इतिहासकार एवं इतर मानव साक्ष्य पर विस्मय मुझे अवश्य

होगा, परन्तु इस विस्मयावह घटना पर विश्वास करने के सम्बन्ध में तनिक भी प्रवृत्ति नहीं होगी। मुझे सन्देह नहीं होगा कि उसकी मृत्यु कल्पित थी अथवा अन्य सार्वजनिक उक्तियाँ कल्पित थीं—प्रत्युत मैं यह दावे के साथ कहूँगा कि ये सब अवश्य ही कल्पित थी, यह न कभी हुआ और यह विवरण कदापि वास्तविक नहीं हो सकता। आप लोग व्यर्थ ही मुझ पर यह आरोप लगाने की चेष्टा करेंगे कि मैं इतने महत्व के विषय पर यह मन्तव्य देकर दुनिया को धोखा नहीं दे सकता जब कि यह मानी हुई बात है कि वह रानी अपनी बुद्धिमत्ता एवं ठोस विचार के लिए प्रख्यात थी और इस प्रकार का जाल रचने से आखिर उसे लाभ भी क्या हो सकता था—इत्यादि—ये सब बातें अवश्य मुझे चकित करेंगी, तथापि मैं उत्तर यही दूँगा कि दुनिया में लोगों की मूर्खता एवं शठता एक ऐसी साधारण-सी बात है कि यह भी कि सब बदमाशों ने मिलकर एक अनहोनी मनगढन्त का सर्वत्र प्रसार पर दिया—परन्तु मैं एक ऐसे विचित्र प्रकृति विरोध को स्वीकार करने के लिए कभी भी तैयार न होऊँगा।

मान लो कि ऐसी कोई आश्चर्यकारी वस्तु किसी नये सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कही जाय, तो युग-युग में जनता इस प्रकार के हास्यास्पद कथानकों से लादी गयी है कि वह अद्भुत् घटना ही पर्याप्त होगी कि समझदार व्यक्ति तुरन्त ही उस वंचना को समझ जाय और उस सम्बन्ध में अधिक छान-बीन करने की भी आवश्यकता न रख एकदम उसे अस्वीकृत कर दे। चाहे वह परम पुरुष, जिसके सम्बन्ध में वह अद्भुत् बात फैलाई गयी हो, सर्वशक्तिमान परमात्मा ही क्यों न हो, वह इसी नाते तनिक भी संभाव्यता की कोटि में नहीं चढ़ पाती, कारण यह है कि उस परम पिता परमेश्वर के सहज गुण एवं धर्मों की किसी को वास्तविक पहिचान ही नहीं है सिवाय इसके कि हमें उसके द्वारा रचित भौतिक पदार्थों का ज्ञान ही और कारणों को देखकर कार्य का अनुमान किया जा सके। इसका मतलब यह हुआ कि हम पुनःपूर्व ज्ञान का अवलम्बन करने और मानव साक्ष्य के अन्तर्गत सत्यता के प्रतियोगी धर्मों की परस्पर तुलना करने लगे और उनकी समानता अद्भुत् के नाम पर बतायी जाने वाली प्राकृतिक धर्म एवं नियमों की भग्नावस्था के साथ करने लगेंगे जिसके

द्वारा बलाबल का विचार कर कौन अधिक शक्य एवं सम्भाव्य है यह हम निर्णय कर सकें। चूँकि धार्मिक अद्भुत् के सम्बन्ध में जो साक्ष्य मिलते हैं उनमें वास्तविकता का सर्वाधिक हनन होता पाया जाता है जितना और किसी दूसरी बात के सम्बन्ध में नहीं होता—यह अनुभव उस साक्ष्य के मूल्य को घटाने में पर्याप्त होना चाहिये और हमें एक दृढ़ निर्णय इस तत्त्व पर करने की प्रेरणा देकर रहेगा कि हमें निर्मूल बातों पर कभी ध्यान नहीं देना चाहिए चाहे उस कृत्रिम भावना का आयाम कितना ही विस्तृत क्यों न हो।

प्रतीत होता है कि लार्ड बेकन ने भी सिद्धान्ततः यही तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि “हमें भूत-प्रेत आदि तथा अन्य असाधारण सृष्टि के सम्बन्ध में प्रचलित चर्चाओं के संग्रह का इतिहास रखना चाहिए।” संक्षेपतः प्रकृति की सृष्टि में जो भी कुछ असाधारण या दुर्लभ-सी वस्तु हो उसकी परिगणना करना आवश्यक है। और यह काम बड़ी बारीक छान-बीन के साथ करना होगा अन्यथा हम सत्य से कहीं दूर न चले जायं। सर्वोपरि यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि तथाकथित साम्प्रदायिक वस्तु विशेष के सम्बन्ध में खास तौर से सतर्क रहने की आवश्यकता है। उतनी ही सतर्कता जादूगरी बाजीगरी अथवा कामियागिरों की रचनाओं अथवा ऐसे लेखकों के ग्रन्थों के सम्बन्ध में बरतनी होगी जिन्हें गप्प उड़ाने तथा दन्तकथाओं को प्रसारित करने का अदम्य उत्साह है।^१

उक्त विचारधारा से मुझे सन्तोष है, कारण यह ईसाई धर्म के प्रच्छन्न, दारुण शत्रुओं को अवश्य अवश्य ही सम्भ्रान्त कर देने वाला है जिन्होंने उस धर्म को मानव तर्क के आधार स्थिर करने का प्रयत्न किया है। हमारा परमपुनीत धर्म श्रद्धा पर आधारित है, तर्क पर नहीं और यही एक ध्रुव उपाय है जिससे वह ऐसी एक परीक्षा का विषय बनाया जाय जो, निश्चय ही, वह सहन करने में असमर्थ ठहरेगा। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हमें धर्म ग्रन्थों में वर्णित अद्भुत् विषयों का विश्लेषण कर सूक्ष्म परीक्षण करना चाहिए। कहीं हम अधिक

विस्तीर्ण क्षेत्र को लेकर गुमराह न हो जाय, इसलिए हम अपनी गवेषणा को पेन्टेय्यूश की कथानकों तक ही सीमित कर लें और इन दाम्भिक ईसाई धर्मानुयायियों के सिद्धांतों के अनुसार यह मानकर परीक्षा करें कि वे उक्तियाँ ईश्वर प्रणीत एवं अपोरुषेय न हो कर किसी इतिहासकार अथवा मर्त्य लेखक द्वारा प्रणीत हैं। तो फिर इस लक्ष्य की तत्परता में हमें सर्वप्रथम एक पुस्तक का निरीक्षण करना है जो हमें ग्राम्य मूर्ख बर्बरों से प्राप्त हुई है।

ग्यारहवां परिच्छेद

देव विशेष और भावी स्थिति

कुछ दिनों पूर्व एक ऐसे मित्र के साथ, जिन्हें कि संशयात्मक विरोधाभासों से लगाव है, मैं चर्चा में संलग्न था, जिसमें उन्होंने ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित किये जिनसे यद्यपि मैं किसी भी प्रकार से सहमत नहीं हो सका, किंतु चूंकि वे विचित्र प्रतीत होते हैं, और पूरी चर्चा में अंतर्निहित तार्किक शृंखला से बराबर अपना सम्बन्ध बनाए रखते हैं, मैं अपनी स्मृति से यथाशक्ति उन्हें ठीक-ठीक उपस्थित करने की चेष्टा करूंगा, जिससे कि पाठक गण उन्हें स्वयं परख सकें।

हमारी चर्चा का आरम्भ मेरे द्वारा दर्शन के इस सुन्दर भाग्य की सराहना से हुई कि यह मात्र दर्शन—जिसे अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त पूर्ण स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है और जिसका विकास भावनाओं तथा तर्क के स्वस्थ विरोध में होता है—का ही सौभाग्य है कि उसका प्रारंभ स्वतंत्रता और सहनशीलता के युग व देश में हुआ, जहाँ उसके अतिवादी सिद्धान्तों के बावजूद भी, किसी विधि या दंड-विधान के द्वारा उसे नहीं कुचला गया। सिवाय प्रोटागोरस के देश-निष्काषण और साक्रेटीस की मृत्यु के, जिसमें से अंतिम घटना के कारण रूप अन्य अभिप्राय भी थे, प्राचीन इतिहास में शायद ही ऐसे उदाहरण मिले जो कि वर्तमान युग में संक्रामक रूप से व्याप्त विद्वेष की भावना की पुष्टि करें। एथेन्स में एपिक्यूरस अपनी लंबी आयु के अंतिम क्षणों तक शांति और सुख से रहा, एपिक्यूरन लोगों को तो धार्मिक क्रिया-कलापों और प्रचलित धर्म के अंतर्गत देव-स्थलों और पवित्र कर्म-कांडों के संचालन की भी अनुमति दे दी गयी, और वेतन तथा पेंशन के रूप में जन-उत्साह दर्शन के सभी सम्प्रदायों के विद्वानों को रोमन सम्राटों में सर्वाधिक बुद्धिमान सम्राट् द्वारा समान रूप से प्रदान किया गया। दर्शन में शैशवकाल में

इस प्रकार का व्यवहार कितना आवश्यक था यह आसानी से समझा जा सकता है यदि हम यह सोचें कि आज भी, जब कि वह (दर्शन) अधिक मजबूत और सामर्थ्यवान हो चुका है, उसे वातावरण की कटुता और पक्षपातपूर्ण विरोधों और असत्यारोपों के कठिन झकोरों का सामना करने में कितनी कठिनाई होती है।

मेरे मित्र ने कहा, जिसे तुम मात्र दर्शन का सुन्दर भाग्य कहकर सराहना करते हो, वह वस्तुस्थिति के समान क्रम की उपज मालूम होती है जो कि प्रत्येक युग और देश में अपरिहार्य है। यह पक्षपातपूर्ण विरोध जिसके कि तुम्हें दर्शन के प्रति घातक होने की शिकायत है, यथार्थतः दर्शन की उपज है जो कि अंधविश्वासों से संलग्न होकर, अपने आप को अपने जनक के हित से असंपृक्त कर, उसका निकटतम विरोधी और उस पर दोषारोपण करने वाला हो गया है। आज के भयानक वितंडावाद के विषय, धर्म के काल्पनिक सिद्धांत, शायद जगत् के प्रारंभिक युग में समझे या स्वीकार नहीं किए जाते, जब कि मनुष्य ने, अपने पूर्णतः अशिक्षित होने के कारण अपनी अविकसित बुद्धि के अनुकूल ही धर्म की एक मान्यता को अपनाया, और अपने धार्मिक सिद्धांतों के रूप में ऐसे कथानकों को गढ़ा जो कि तर्क या वितंडावाद से अधिक परम्परागत विश्वासों के विषय थे। अतएव, प्रारंभिक दार्शनिक विरोधाभासों और सिद्धांतों के फलस्वरूप उत्पन्न प्रथम संकटपूर्ण स्थिति जब समाप्त हो गयी तो उसके बाद, युगों पूर्व से, ये शिक्षक संभवतः प्रचलित अंधविश्वासों के साथ बड़े मैत्रीपूर्ण ढंग से रहते और मानव समुदाय में मनुष्यों के बीच एक काफ़ी मजबूत दीवार खड़ी करते चले आये, पहला सभी विद्वानों और बुद्धिमानों के स्वपक्ष में होने का दावा करता हुआ, और दूसरा सभी अविचारशीलों और रूढ़िवादियों का संकलन करता हुआ।

मैंने उत्तर में कहा कि मालूम होता है कि तुमने राजनीति के प्रश्न को बिल्कुल ही छोड़ दिया, और कभी यह भी न सोचा कि एक बुद्धिमान न्यायाधीश दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों से औचित्यपूर्ण विद्वेष रख सकता है, जैसे कि एपिक्यूरस के सिद्धांत, जो कि दैवी-अस्तित्व और परिणामतः भविष्य वक्तव्य और भावीराज्य का निषेध करते हुए,

नैतिकता के बंधन को काफी हद तक ढीला करते हुए प्रतीत होते हैं, और इसलिए सभ्य-समाज की शान्ति के लिए घातक समझे जा सकते हैं।

प्रत्युत्तर में मेरे मित्र बोले, मैं जानता हूँ कि यथार्थतः ये वैमनस्य-ताएँ कभी भी ठंडे दिमाग या दर्शन के दुष्परिणाम के अनुभव स्वरूप उत्पन्न नहीं होतीं, वरन् पूर्णतः अंधविश्वास और पक्षपात के कारण होती हैं। किंतु यदि मैं जरा आगे बढ़कर यह कहूँ कि क्या होता यदि एपिक्यूरस पर उस समय के किन्हीं खुशामदियों और चुगलखोरों द्वारा जनसाधारण के सम्मुख दोषारोपण किया जाता, जिससे कि वह अपना बचाव सरलता-पूर्वक कर सकता और अपने दर्शन के सिद्धांतों को अपने प्रतिपक्षियों, जिन्होंने कि बड़े उत्साह से उसे जनसाधारण की घृणा व रोष का पात्र बनाने की चेष्टा की थी, के सिद्धांतों के समान ही हितकर सिद्ध कर देता ?

मैंने कहा कि मेरी इच्छा है कि तुम इस असाधारण विषय पर अपनी वाक्शक्ति आजमाओ, और एपिक्यूरस की ओर से एक व्याख्यान दो जो कि न केवल एथेन्स के जनसमूह, यदि तुम्हारी समझ में एथेन्स के उस प्राचीन और सभ्य नगर में जनसमूह रहा हो, वरन् उसके श्रोताओं में उपस्थित दार्शनिक वर्ग को भी संतुष्ट कर सके, जो कि उसके तर्कों को आत्मसात् कर सके।

उन्होंने कहा कि इन परिस्थितियों में यह काम कुछ कठिन नहीं है और यदि तुम्हारी इच्छा है तो मैं अपने आपको क्षण भर के लिए एपिक्यूरस और तुम्हें एथेंसवासी जनसमूह मान कर चलूँगा और तुम्हें एक ऐसा तीक्ष्ण भाषण दूँगा जिसमें कि मेरे प्रतिपक्षियों के विद्वेष का कोई आधार शेष नहीं रह जायेगा।

बहुत अच्छा : कृपया आप अपनी इन मान्यताओं पर आगे बढ़ें।

हे एथेंसवासियो ! मैं यहाँ आपकी सभा में वह सब कुछ, जिसे मैं अपने विद्यालय स्वीकार करता रहा हूँ, न्यायोचित ठहराने आया हूँ, और शान्त व गम्भीर जिज्ञासुओं से वार्ता की जगह, मैं अपने आपको (आज) अपने क्रोधी प्रतिनिधियों द्वारा दोषी ठहराया गया पाता हूँ। आपका ध्यान, जो कि औचित्यपूर्ण ढंग से जन-कल्याण तथा जनसामान्य

के हित संबंधी प्रश्नों में लगा होता है, आज दार्शनिक चिंतन के विचारार्थ आकर्षित किया गया है और ये, भव्य किन्तु शायद निरर्थक विचार-विमर्ष आपके अधिक परिचित व उपयोगी कार्यों का स्थान लेने को प्रस्तुत हैं। किन्तु जहाँ तक मेरे वश की बात है, मैं उपयोगिता के इस अपव्यय को रोकूँगा। हम यहाँ देशों की उत्पत्ति और शासन-प्रणाली की चर्चा नहीं करेंगे। हमें केवल यही विचार करना है कि ऐसे प्रश्न किस सीमा तक जनहित से सम्बन्धित हैं। और यदि मैं आप लोगों को आश्चस्त कर सका कि समाज की शांति और शासन की सुरक्षा के संदर्भ में ये प्रश्न बिल्कुल निरपेक्ष हैं, तो मुझे आशा है कि आप हमें तुरन्त ही हमारे विद्यालयों में लौट जाने देंगे, जहाँ कि हम आराम से इस महत्वपूर्ण किन्तु साथ ही दर्शन के सर्वाधिक काल्पनिक विषय की जाँच-परख कर सकें।

आपके पूर्वजों की परम्परा और धर्माचार्यों के सिद्धांतों, जिनमें कि मैं हार्दिक रूप से सहमत हूँ, से असंतुष्ट, कुछ धार्मिक चिन्तन धर्म के बौद्धिक आधारों पर स्थापना के प्रश्न पर अति जिज्ञासु हो उठते हैं, और अपनी जिज्ञासा द्वारा वे समाधान के बदले शंकाएँ उपस्थित करते हैं जो कि स्वभावतः ध्यानपूर्वक किये गये तर्कपूर्ण खोजबीन के परिणाम हैं। वे विश्व के व्यवस्थित, सुन्दर और विवेकपूर्ण को बड़े आकर्षक रंगों में चित्रित करते हैं, और फिर पूछते हैं कि क्या बुद्धि का इतना भव्य विलास अणुओं के आकस्मिक सम्मिलन का परिणाम हो सकता है अथवा जिसे कि बड़े-बड़े विद्वान भी पूर्णतः समझ सकने में असमर्थ होते हैं वह क्या मात्र आकस्मिकता की उपज हो सकती है। मैं इस तर्क के औचित्य की परख नहीं करूँगा। मैं इसे उतना ही ठोस समझूँगा जितना कि मेरे प्रतिद्वन्द्वी और मुझ पर दोषारोपण करने वाले चाहें। मेरे लिए तो इतना ही पर्याप्त होगा कि मैं इसी तर्क के आधार पर प्रस्तुत प्रश्न की नितान्त काल्पनिकता प्रमाणित कर दूँ, और जब अपने दार्शनिक विचारों में मैं भविष्य-कथन और भावी राज्य को अस्वीकार करने, जिसका अभिप्राय समाज के आधारशिलाओं पर आघात करना नहीं होगा, तो ऐसे सिद्धांत प्रस्तुत करूँ जिसे कि वे अर्थात् मेरे प्रतिद्वंद्वी यदि अपने ही विषयों पर,

तार्किक विचार करें तो स्वयं ही ठोस और संतोषप्रद समझें।

तो, मेरे प्रतिवादियो ! आप लोगों के अनुसार दैवी-सत्ता जिसे कि मैं अस्वीकार नहीं करता, के लिए प्रमुख अथवा एकमात्र तर्क है उसकी प्रकृति की व्यवस्था से निःसृति। और जहाँ भी ऐसी बुद्धिपरता व अस्तित्व के लक्षण प्रकट होते हैं तो आप उन्हें मात्र आकस्मिकता या अंधी अबौद्धिक शक्ति से कारण भूत मानने के दृष्टिकोण को धृष्टता समझते हैं। आप स्वीकार करेंगे कि यह तर्क कारण-कार्य की शृंखला पर आधारित है। किसी कृति की व्यवस्था देखकर आप अनुमान करते हैं कि कृतिकार के मस्तिष्क में अवश्य ही उसकी योजना और पूर्व-धारणा रही होगी। यदि आप इससे सहमत नहीं होते, तो आप स्वीकार करेंगे कि आपके निष्कर्ष गलत सिद्ध होंगे, और आप अपने निष्कर्षों की स्थापना प्रकृति स्वीकृत आधारों से भी परे करने का बहाना नहीं करेंगे। इतना आप स्वीकार करते हैं। मैं चाहता हूँ कि अब आप (इसके) परिणामों पर गौर करें।

जब एक कारण से हम किसी विशेष परिणाम का अनुमान करते हैं, तो हमारे लिए यह आवश्यक होता है कि हम दोनों का अनुमान बराबर समझें, और कारण में किसी भी ऐसे गुण का आरोप कभी न करें जो कि परिणाम को उत्पन्न करने में पर्याप्त से अधिक हो। दस औंस के परिणाम वाले किसी भी द्रव्य की मात्रा बढ़ाने जाने से यह प्रमाणित होगा कि प्रस्तुत मात्रा दस औंस से अधिक है, किन्तु इसके आधार पर यह कभी नहीं कहा जा सकेगा यह मात्रा तो सौ औंस से अधिक हो गयी। यदि कोई कारण अपेक्षित परिणाम उत्पन्न करने में अपर्याप्त है, तो या तो हम उसे कारण मानने से इंकार करेंगे या फिर उसमें ऐसे गुणों का समावेश करेंगे जो कि परिणाम से उसे संतुलित करे। किन्तु यदि हम उसमें और भी गुणों का आरोप करते चले जावें या उसे अन्य परिणामों को भी उत्पन्न करने में सशक्त समझें, तो इससे हमें अनुमान का अधिकार पत्र मिल जाता है, और हम स्वेच्छापूर्वक बिना किसी तर्क या आधार के विभिन्न गुणों और शक्तियों की उपस्थिति मानते चले जाते हैं।

यही नियम वहाँ भी लागू होते हैं जहाँ कि प्रस्तुत कारण का स्वरूप अचेतन रूढ़ पदार्थ या एक बौद्धिक चेतन सत्ता समझा जावे। यदि

कारण का ज्ञान केवल परिणाम से ही हो तो हमारे लिए यह कभी भी आवश्यक नहीं है कि उसमें ऐसे किसी भी गुण का आरोप करें जो कि अपेक्षित कारण को करने की आवश्यकता से अधिक हो, न ही न्यायपूर्ण ढंग से हम पुनः कारण की ओर लौट सकते हैं और उन परिणामों के अतिरिक्त भी, केवल जिनके फलस्वरूप ही हमें उसका (कारण का) ज्ञान होता है, अन्य परिणामों का अनुमान कर सकते हैं । कोई भी, जेयुक्सस के चित्रों को देखकर यह नहीं जान सकता कि वह एक मूर्तिकार या शिल्पी भी था और पत्थर तथा संगमरमर में उसकी कुशलता रंगों की कुशलता से कम न थी । चातुर्य और रुचि का जो प्रदर्शन हमारे सामने किसी विशेष कृति द्वारा होता है—उनका कृतिकार में होना हम बिना किसी हिचक के कह सकते हैं । कारण अवश्य ही परिणाम से आनुपातिक होना चाहिए, और यदि हम निश्चित रूप से उसका अनुपात स्थिर कर देते हैं तो उसमें ऐसे गुण नहीं पा सकते जो कि अधिक परिणामों की घोषणा या किसी अन्य योजना या क्रिया के सम्बन्ध में अनुमान की योग्यता प्रदान करें । ऐसे गुण निःसंदेह किसी न किसी तरह उस परिणाम की उत्पत्ति के आवश्यक तत्वों से परे हैं जिनका कि हम विचार करते हैं ।

अतएव यह स्वीकार करने पर कि देवगण विश्व की सत्ता या व्यवस्था के कारण हैं, यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उसी मात्रा में शक्ति, विवेक और शुभ गुणों से सम्पन्न हैं जितना कि उनकी कृति (अर्थात् विश्व) में दृष्टिगत होता है, किन्तु इससे आगे कभी भी कुछ प्रमाणित नहीं किया जा सकता, यदि हम अपने तर्क और विचार के दोषों को ढँकने के लिए बहुत बड़ा-चड़ा कर कहने या बकवास की सहायता न लें । जितने भी गुणों के लक्षण वर्तमान में प्रकट हों, उतने ही गुणों की उपस्थिति हमें स्वीकार करनी चाहिए । अन्य गुणों की मान्यता केवल मानी हुई चीज़ होगी, यह अति-मान्यता होगी कि दूरस्थ देश और कालावधि में, ऐसे गुणों की अधिक सुरुचिपूर्ण उपस्थिति और ऐसे काल्पनिक सदगुणों के अनुकूल व्यवस्था की योजना है या होगी । यह कभी भी मान्य नहीं किया जा सकता कि हम विश्व, परिणाम से ज्यूपिटर कारण की ओर आरोहण करें और फिर उस कारण से नये परिणामों

का अनुमान लेकर नीचे उतरें, जैसे कि वर्तमान गुण अपने आप में पूर्णतः सम्माननीय न हों जिसे कि हम उस देवता पर आरोपित न कर सकें । चूँकि कारण का ज्ञान केवल परिणाम से होता है, उन्हें एक दूसरे से बराबर संतुलित रखना चाहिए, कोई भी उससे परे किसी अन्य तथ्य से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता, अथवा अन्य अनुमान और निष्कर्ष की आधारभूमि नहीं बना सकता ।

आप प्रकृति में विशेष स्थिति पाते हैं । आप उसका कारण या कर्ता ढूँढते हैं । आप कल्पना करते हैं कि आप उसे पा गये हैं । फिर आप अपने मस्तिष्क की इस उपज से इतने सम्मोहित हो जाते हैं कि यह सोचना ही अकल्पनीय समझने लगते हैं कि वह वर्तमान वस्तुस्थिति, जो कि कष्टप्रद और अव्यवस्थापूर्ण है, की तुलना में एक उच्च और पूर्ण स्थिति की रचना नहीं कर सकता । आप यह भूल जाते हैं कि यह सर्वोच्च विवेक और शुभता मात्र काल्पनिक या कम से कम बिना किसी बौद्धिक आधार के हैं और यह कि आपके पास, अतिरिक्त उन गुणों के जो कि उससे अविर्भूत रचना में यथार्थतः प्रस्तुत और प्रदर्शित है, अन्य किन्हीं गुणों का उस पर आरोप करने का कोई आधार नहीं है । अतएव, हे दार्शनिक गण ! आप अपने देवताओं को प्रकृति की वर्तमान स्थितियों के अनुकूल बने रहने दीजिए और उन स्थितियों को स्वेच्छापूर्ण मान्यताओं द्वारा, जिन्हें कि आप अपने पूज्य देवों पर बड़ी लगन से आरोपित करते हुए परिस्थितियों को उनके अनुकूल ढालने की चेष्टा करते रहे हैं, बदलने का विचार न कीजिए ।

हे एथेन्सवासियो ! जब कि आपकी सत्ता से समर्थन प्राप्त पुजारी और कविगण बुराइयों और दुःखों की वर्तमान दशा के पूर्वगामी स्वर्ण या रजत युग की चर्चा करते हैं, तब मैं उन्हें बड़े ध्यान से व नम्रतापूर्वक सुनता हूँ । किन्तु दार्शनिक गण जो कि सत्ता की अवहेलना और विवेक प्राप्ति का बहाना करते हैं, जब इन्हीं नियमों पर बातचीत करते हैं, तो, मैं स्वीकार करता हूँ कि , उसी तरह नम्रता पूर्ण अविरोध और उनके उच्च विवेक युक्त होने की मान्यता प्रदान नहीं करता । मैं पूछता हूँ कि किसने उन्हें देवलोक में पहुंचाया ? किसने उन्हें देवसभा में प्रवेश की

अनुमति दी ? किसने उनके लिए भाग्य की पुस्तक खोल दी ? जिससे कि वे यह दावा कर सकें कि उनके देवगण वर्तमान स्थिति से परे उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं, या करेगे ? यदि वे मुझे बताएँ कि वे बुद्धि की सीढ़ी या उसकी सतत ऊँचाइयों पर चढ़ कर और परिणामों से कारण का अनुमान कर वहाँ पहुँचे हैं, तो अभी भी मैं इस पर जोर देता हूँ कि बुद्धि की ऊँचाइयों को उन्होंने कल्पना के पर लगा कर सहायता की है, अन्यथा वे कभी भी अनुमान की पद्धति को ही बदल कर कारण से परिणाम का तर्क प्रस्तुत नहीं करते, वे पूर्वाग्रह वश कहते हैं कि पूर्णता प्राप्त देवों के लिए वर्तमान विश्व से अधिक पूर्ण सृष्टि अधिक अनुकूल होगी और भूल जाते हैं कि इन अपवर्गीय देवों पर किसी पूर्णता या वर्तमान जगत् में उपलब्ध गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी गुण का आरोप करने का कोई प्रमाण नहीं है ।

इसलिए प्रकृति के दोषप्रद प्रतीत होने की व्याख्या और देवताओं के महत्व की रक्षा के लिए ये सब व्यर्थ प्रयत्न होते हैं, जब कि हमें उन दोषों व अव्यवस्था की सत्यता को स्वीकार करना चाहिए, जो कि विश्व में इतना अधिक व्याप्त है । हमें यह बताया जाता है कि पदार्थ के स्वयंभू और अलक्ष्य गुण, या किसी सामान्य नियम का संचालन, या इसी तरह का अन्य कोई कारण, ही एक मात्र कारण है जो ज्यूपिटर की शक्ति व क्षमता को नियंत्रित करता है, और उसे इतने अपूर्ण और दुःखत्रस्त मानव-जाति तथा अन्य जीवों की उत्पत्ति के लिए विवश करता है । इसलिए यह प्रतीत होता है कि, इन गुणों को उनकी अधिकतम प्रभावशीलता में पूर्वाग्रह-पूर्वक मान लिया गया है । और, यदि ऐसी मान्यता हो तो मैं मानता हूँ कि शायद ये अनुमान अपूर्ण सृष्टि के सम्भव हल के रूप में स्वीकार किये जा सकें । किन्तु फिर भी मैं पूछता हूँ, क्यों इन गुणों को मान लिया जाए, कारण में ऐसे गुणों का आरोप क्यों किया जावे जो घटित परिणाम में लक्षित नहीं हैं ? प्रकृति की व्यवस्था को न्यायोचित ठहराने के लिए—जो कि, आपको जानना चाहिए, मात्र कल्पना हो सकती है और जिसका कि प्रकृति के क्रम में कोई लक्षण नहीं पाया जाता—क्यों आप अपने मस्तिष्क को पीड़ा पहुँचाते हैं ?

अतएव, धार्मिक मान्यताओं को जगत् की ज्ञात स्थिति की व्याख्या की एक विशेष स्थिति मात्र ही समझना चाहिए, किन्तु कोई भी न्याय-प्रिय व्यक्ति इससे एक तथ्य भी प्रमाणित करने और वर्तमान स्थिति को बढ़ाने-चढ़ाने या बदलने की बात कभी नहीं सोचेगा। यदि आप सोचते हैं कि वस्तुओं की स्थिति ऐसे कारणों से प्रमाणित करती है, तो आपको यह अधिकार है कि ऐसे कारणों की सत्ता से संबंधित अनुमान आप कर सकें। ऐसे जटिल और अपवर्गीय विषयों में प्रत्येक व्यक्ति को कल्पना और तर्क की स्वतंत्रता होगी। किन्तु यहाँ आपको ठहरना होगा। यदि आप वापस आयेंगे और अपने अनुमानित कारणों के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे कि सृष्टि-क्रम में किसी अन्य तथ्य, जो कि विशेष गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति में सहायक होगा, की भी उपस्थिति है या होगी, तो मैं आगाह करूँगा कि आप प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित तर्क की विधि से बहक गये हैं, और कारण में अवश्य ही ऐसे गुणों का समावेश कर दिया है जो कि परिणाम में परिलक्षित नहीं होते, अन्यथा आप कभी भी, समझ में आने योग्य तात्पर्य या औचित्य के साथ, परिणाम में किसी भी अन्य चीज का समावेश कारण की महिमा बढ़ाने के लिए नहीं करते।

तब कहाँ है मेरे सिद्धांतों की अवांछनीयता जिन्हें कि मैं अपनी पाठशाला में पढ़ाता या फिर, जिन्हें मैं अपनी वाटिका में जाँचता हूँ? अथवा इस पूरे प्रश्न में ऐसा क्या है जिससे कि वांछनीय नैतिकता की सुरक्षा या सामाजिक व्यवस्था से किंचित भी सम्बन्ध लक्षित होता है?

आप कहते हैं कि मैं भावी-राज्य या विश्व के सर्वोच्च नियन्ता को अस्वीकार करता हूँ जो कि समस्त घटना चक्र को नियन्त्रित करते हैं और बुरे को उसके सब कामों में कुप्रसिद्धि व निराशा द्वारा दंड देते तथा अच्छे को उसके समस्त कार्यों में सुयश व सफलता द्वारा पुरस्कृत करते हैं। किन्तु निश्चय ही मैं घटना चक्र को अस्वीकार नहीं करता जो कि प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख अन्वेषण व परीक्षण के द्वारा प्रस्तुत है। मैं मानता हूँ कि, प्रस्तुत वस्तु-स्थिति में, बुराइयों की अपेक्षा सद्गुण ही अधिक शान्त विवेक का विषय है और जगत् से स्नेह सत्कार उसे ही अधिक मिलता है।

मैं समझता हूँ कि, मानव जाति के पूर्वानुभवों के अनुसार, जन-जीवन का प्रमुख सुख मिलता है और केवल मध्यम मार्ग ही शान्ति व सुख का उपाय है। मैं कभी भी अच्छे और बुरे जीवन क्रम के बीच संतुलन स्थापित नहीं करता, वरन् समझता हूँ कि एक सद्विवेकी व्यक्ति के लिए सभी लाभ अच्छे जीवन क्रम के हैं। आप अपनी समस्त मान्यताओं और तर्कों के आधार पर भी इससे अधिक कह सकते हैं? बेशक, आप मुझे बताते हैं कि यह प्रकृति बुद्धि और योजना से निःसृत होती है। किन्तु यह चाहे जहाँ से भी निःसृत हो, स्वयं प्रकृति, जिस पर कि हमारे सुख व दुःख और परिणामतः हमारे जीवन के समस्त क्रिया-कलाप निर्भर करते हैं, वैसी की वैसी ही बनी रहती है। मैं अपने व्यवहारों को गत घटनाक्रम के अनुभवों के आधार पर व्यवस्थित करूँ यह प्रश्न मेरे और आपके लिए पूर्ववत् बना रहता है। और, यदि आप दावा करते हैं कि भावी राज्य की कल्पना तथा जगत् में सर्वोच्च वितरित न्याय को मान लेने पर सामान्य घटना क्रम से परे मुझे अच्छाई और बुराई के लिए क्रमशः अधिक विशेष पुरस्कार और दण्ड मिलना आवश्यक है, तो मैं यहाँ उसी प्रकार का दोष पाता हूँ जिसे मैंने पहले ही दिखाने का यत्न किया। आप अपनी इस काल्पनिकता पर जोर देते हैं कि यदि हम दैवी-सत्ता, जिसे कि आप सच्चे दिल से मानते हैं, को स्वीकार करें तो आप बड़ी सफलता पूर्वक उससे परिणाम आविष्कृत कर सकते हैं और अपने देवताओं पर स्वरोपित गुणों के आधार पर आप उन्हें प्रकृत अनुभव गत व्यवस्था में जोड़ सकते हैं। सम्भवतः आप भूल जाते हैं कि इस विषय पर आपके समस्त विचार केवल परिणाम से कारण की ओर अग्रसित हो सकते हैं, और प्रत्येक वह विचार जो कारण से कार्य-रूप में निःसृत होता है, आवश्यक रूप से कोरे बकवास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि आपके लिए कारण में सिवाय उन तथ्यों के जिन्हें कि परिणामों में आप पहले ही खोज चुके हैं, अनुमानित नहीं, अन्य किसी भी तथ्य का जानना असम्भव है।

किन्तु एक दार्शनिक उन निरर्थक तार्किकों के बारे में क्या सोचे, जो कि वस्तुओं की वर्तमान स्थिति को अपने विचार का एकमात्र विषय मानने के बदले, समस्त सृष्टि क्रम को ही इतना सीमित कर देते हैं कि

यह जीवन किसी दुरस्थ अदृश्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक रास्ता मात्र रह जाता है, एक गलियारा जो कि एक बृहत् और नितांत भिन्न गृह की ओर ले जाता है, किसी चीज को प्रस्तुत करने के लिए एक भूमिका मात्र है जो कि उसे अधिक यश और औचित्य प्रदान करता है? आप ही सोचिए, ऐसे दार्शनिक कहाँ से अपने देवताओं का अनुमान करते हैं? निसंदेह, अपने छल, छद्म और कल्पना से। क्योंकि, यदि वे इसे वर्तमान वस्तु-स्थिति पर आधारित करते तो यह कभी भी इससे परे इंगित न करता और अवश्य ही उसमें बिल्कुल ठीक-ठीक लागू हो जाता है। यह कि दैविक सत्ता में सम्भवतः ऐसे गुणों की जिन्हें कि हमने कभी प्रकट नहीं देखा, विद्यमानता मानी जा सकती है या उन कर्मों से भी अनुशासित माना जा सकता है जिन्हें कि हम खोज-बीन कर संतोष प्राप्त नहीं कर सकते : यह सब बड़ी स्वच्छन्दतापूर्वक स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यह सब केवल सम्भाव्यता या मिद्धान्त मात्र ही है। हम कभी भी उसमें किसी गुण के अनुमान या किसी क्रिया-कलाप के नियमादि, का आधार नहीं मिल सकता, सिवाय उसके जिसे कि हमने प्रत्यक्ष देखा और जो संतोषप्रद प्रतीत हुए।

क्या विश्व में कही भिन्न न्याय के लक्षण है?

यदि आप इसका उत्तर 'हाँ' में देते हैं, तो मेरा निष्कर्ष है कि, चूंकि यहाँ न्याय की प्रकट विद्यमानता है, समस्या का समाधान संतोषप्रद है। यदि आपका उत्तर निषेधात्मक है, तो मेरा निष्कर्ष है कि देवताओं पर, (हमारे अर्थ में) न्याय आरोपित करने का कोई आधार नहीं है। यदि आप यह कहकर, कि वर्तमान में देवताओं का न्याय पूर्णतः नहीं वरन् अंशतः ही क्रियाशील है, 'हाँ' और 'न' के बीच का मार्ग अपनाये तो मेरा उत्तर है कि आपको इस (दैवी न्याय) को वर्तमान में लक्ष्य क्रियाशीलता के अतिरिक्त, किसी अन्य विशेष सीमा में बाँधने का कोई आधार नहीं।

इस तरह, हे एथेन्सवासियो ! प्रस्तुत प्रतिवाद को अपने प्रतिपक्षियों के सम्मुख में एक छोटे से मसले के रूप में रख रहा हूँ। प्रकृति का क्रम मेरे विचार के लिए उतना ही आवरणहीन है जितना कि उनके विचार के

लिए। घटनाओं की अनुभवगत शृंखला वह बृहत् मापदंड है जिसके द्वारा हम सब अपने क्रिया कलापों को व्यवस्थित करते हैं। इस सभा (सीनेट) या (दर्शन के) क्षेत्र में इससे अधिक और किसी का सहारा नहीं लिया जा सकता। पाठशाला या निजी स्थलों पर इससे अधिक सुनना-सुनाना नहीं चाहिए। किन्तु अफ़सोस हमारी बुद्धि इन सीमाओं का उल्लंघन करती है, चूंकि वे हमारी कल्पना-प्रियता के लिए अत्यन्त संकीर्ण हैं। जब हम प्रकृति-क्रम से अपना विचार आरंभ कर एक विशेष-विवेक-युक्त कारण का अनुमान करते हैं, जो कि विश्व-व्यवस्था का प्रारंभ से ही व्यवस्थापक रहा है, जो कि अनिश्चित और साथ-साथ अनुपयोगी भी है। यह अनिश्चित है, क्योंकि प्रस्तुत विषय मानव-अनुभव से नितांत परे है। यह अनुपयोगी है, क्योंकि इस कारण सम्बन्धी हमारा ज्ञान चूंकि प्रकृति क्रम पर आधारित है, सही विचार के नियमों के अनुसार हम कारण से पुनः किसी नये अनुमान की ओर लौट नहीं सकते, या प्रकृति के सामान्य और अनभवगत क्रम में कुछ जोड़ नहीं सकते, व्यवहार व आचरण के नये सिद्धांत स्थापित नहीं कर सकते।

“मैं देखता हूं।” जब उसे अपना भाषण समाप्त करते हुए पाया तो मैंने कहा, कि “तुमने पुरातन पंथी दुष्टता की बनावट की अवहेलना नहीं की और जैसे कि अपनी स्वेच्छा से मुझे जनता की जगह रख, तुमने उन सिद्धांतों को अपनाकर मुझे अपने पक्ष में करने की कोशिश की, जिनसे जैसा कि तुम जानते हो, मैं हमेशा एक विशेष लगाव प्रदर्शित करते आया हूं। किन्तु तुम्हें अनुभव को इस ओर अन्य सभी तथ्य के प्रश्नों के निर्णयों का एकमात्र मापदंड, जो कि मेरी समझ से औचित्य पूर्ण है, बनाने की स्वतंत्रता प्रदान करते हुए भी यद्यपि मैं संदेह नहीं करता किन्तु सम्भव है कि उन्हीं अनुभवों द्वारा जिन पर कि तुम्हारे सब विचार आधारित है, वे सब तर्क व्यर्थ सिद्ध किए जा सकें जो कि तुमने एपिक्यूरस से मुंह से निकलवाये हैं। जैसे कि तुमने एक अर्ध निर्मित इमारत देखी—ईंटों, पत्थरों और गारे के ढेर तथा गृह-निर्माण के समस्त उपकरणों से घिरी हुई, क्या तुम इस परिणाम से यह अनुमान नहीं कर सकते कि यह एक योजना और बुद्धि की कृति है? और क्या तुम इस अनुमानित कारण से

पुनः परिणाम में नये तथ्यों को सम्मिलित करने के अनुमान की ओर नहीं लौट सकते तथा यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि वह इमारत जल्दी ही पूरी होने वाली है और उसमें भविष्य की वह प्रोज्ज्वलता आने वाली है जो कला द्वारा उसे प्रदान किया जावे ? यदि तुम समद्रतट पर किसी व्यक्ति का एक ही पद-चिन्ह देखो तो तुम यह निष्कर्ष निकालोगे कि कोई व्यक्ति उधर से गुजरा है और तब वह यहाँ दूसरे पैर का निशान भी छोड़ गया था जो कि अब बालू या जल-प्रवाह के कारण—मिट गया है। तब तुम विचार की इसी पद्धति का प्रकृति क्रम में क्यों निषेध करते हो ? समझ लो कि विश्व और वर्तमान जीवन एक अधूरी इमारत है, जिसमें तुम एक उच्च विवेक का अनुमान कर सकते हो और उस उच्च विवेक से, जो कि कोई भी चीज अधूरी नहीं छोड़ सकती, विचार करते हुए क्यों नहीं तुम एक अधिक सुगठित योजना या व्यवस्था का अनुमान कर सकते, जिसकी पूर्णता भविष्य के किसी दूरस्थ देश व काल में होगी ? क्या विचार की ये पद्धतियाँ एकदम समान नहीं हैं ? फिर, किस बहाने तुम एक का निषेध करते हुए दूसरे को अपना सकते हो ?”

उसने उत्तर दिया, मेरे निष्कर्षों में इस भिन्नता का पर्याप्त आधार है—प्रस्तुत विषयों की असाधारण असमानता। मानवीय कला और विवेक की कृतियों में परिणाम के कारण और पुनः कारण से परिणाम की ओर गति का विचार औचित्य पूर्ण हो सकता है, जिसके कि परिणाम के सम्बन्ध में नये अनमान किये जा सकें जो कि उस पर शायद घटित हो चुके हों या अभी घटित होने वाले हों। किंतु विचार की इस पद्धति का आधार क्या है ? स्पष्टतः यह कि मनुष्य एक अस्तित्वशील प्राणी है, जिसके लक्ष्यों से हम परिचित हैं और जिसकी योजना व रुचि में प्रकृति के उन नियमों के अनुसार जिन्हें कि उसने ऐसे प्राणियों पर शासन के लिए रचे है—एक विशेष सम्बन्ध व क्रमबद्धता है। इसलिए जब हम पाते हैं कि कोई कार्य मनुष्य के चातुर्य और उद्योग से निःसृत हुआ है, हम इस संबंध में कि उससे क्या अपेक्षा की जानी चाहिए सैकड़ों अनुमान लेते हैं, चूंकि हम इस प्राणी के स्वभाव से विभिन्न प्रकार से परिचित होते हैं, और इन सब अनुमानों का आधार होगा हमारे अनुभवों का निरीक्षण। किन्तु

यदि हम मनुष्य को उसके केवल एक कार्य या कृति से ही जानते होते जिसे हम जाँचते, हमारे लिए इस तरह का विचार करना असम्भव होता, क्योंकि उन समस्त गुणों का हमारा ज्ञान जिसे कि हम उस पर आरोपित करते हैं, उस दशा में चूंकि एक ही कृति से अनुमानित होता, यह असम्भव होता कि वह उससे परे किसी और इंगित कर सकता या किसी नये अनुमान का आधार बनता। बालू पर एक पैर का निशान, जब मात्र यही विचार की सामग्री हो, केवल इतना ही प्रमाणित करता है कि उसके अनुरूप कोई चीज़ थी कि उसे पैदा किया किन्तु मनुष्य के पैर का इस तरह का एक चिन्ह, हमारे अन्य अनुभवों से, यह प्रमाणित करता है कि शायद वहाँ दूसरा पैर भी था जो अपना भी निशान वहाँ छोड़ गया था, यद्यपि वह समय या अन्य घटना के फलस्वरूप प्रभाव ग्रस्त हो गया। यहाँ हम परिणाम से कारण की ओर बढ़ते हैं, कारण से पुनः नीचे उतर कर सम्भव परिणामों पर विचार करते हैं, किन्तु यह उसी पूर्व सरल विचार शृंखला की सतत शाखा नहीं है। इस स्थिति में हमने उन सैकड़ों अन्य अनुभवों व निरीक्षणों को सम्मिलित किया है जिनके बिना कि इस विचार पद्धति को अवश्य ही दोषपूर्ण और वकवास समझा जाना चाहिए।

यह स्थिति हमारे द्वारा प्रकृति के क्रिया-कलापों से किये गये अनुमान की तरह नहीं है। हमें देवता का ज्ञान केवल उसकी कृतियों से है, और विश्व में वह एकमेव सत्ता है, किसी जाति या वर्ग में नहीं पहचाना जाता, जिसके कि अनुभव गत गुणों या लक्षणों द्वारा समरूपता के आधार पर हम उसमें किसी गुण का लक्षण का अनुमान कर सकें। जैसे कि जगत् में बौद्धिकता और शुभता प्रकट है अतः हम बुद्धि और शुभ का अनुमान करते हैं और चूंकि ये एक सीमा तक ही पूर्णता दिखाते हैं, हम एक विशेष सीमा का ही अनुमान करते हैं जो कि हमारे द्वारा जाँचे गये परिणामों में बिल्कुल ठीक उतरता है। किन्तु इससे अन्य गुणों या इस सीमा से अधिक इन्हीं गुणों के अनुमान की मान्यता के लिए हम किसी भी तर्क पूर्ण विचार के नियमों द्वारा अधिकारी नहीं हैं। इस तरह, इस प्रकार किसी मान्यता के अधिकार पत्रक के बिना, हमारे लिए यह असम्भव है कि हम कारण से विचार आरम्भ करें या जो कुछ हमारे निरीक्षण में तात्कालिक

रूप से प्रस्तुत है उससे परे परिणाम में किसी परिवर्तन का अनुमान करें। इस दैवी सत्ता द्वारा उद्भूत अधिक शुभ, का और अधिक परिमाण में प्रमाण दे : न्याय और समानता के आधिक्य पक्ष से पुरस्कार और दंड का और अधिक पक्षपातहीन वितरण होना चाहिए। प्रकृति क्रम में मान्यतापूर्वक जोड़ी गयी कोई भी चीज प्रकृति कर्त्ता के गुणों में अभिवृद्धि करती है, और परिणाम वह किसी कारण या विचार की दृष्टि से आधारहीन होती है, सदैव एक मोटी कल्पना या पूर्व कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं होती।^१

१. मैं सोचता हूँ कि इसे सामान्यतः एक सिद्धान्त के रूप में स्थापित किया जा सकता है कि जहाँ कोई कारण केवल उसके विशिष्ट परिणामों द्वारा ही जाना जाता है, उस कारण से नये परिणामों का अनुमान अवश्य ही असम्भव होना चाहिए क्योंकि वे गुण जो कि पूर्व ज्ञात परिणामों के साथ-साथ नये परिणामों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक हैं, अवश्य ही पूर्व ज्ञात गुणों की अपेक्षा, जिनसे कि वह परिणाम उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा हमें कारण का ज्ञान होता है, भिन्न या अधिक होना चाहिए। इस तरह, इन गुणों की उपस्थिति को मानने का कोई आधार हमारे पास नहीं है। यह करने से कि नये परिणाम उसी शक्ति की जिसे कि हम पूर्व ज्ञात परिणामों द्वारा जानते हैं, बनावट (प्रकृति) से ही निःसृत होते हैं, कठिनाई दूर नहीं होती। क्योंकि यदि ऐसी स्थिति भी मान ली जाये, जो कि शायद ही मानी जा सकती है, एक समान शक्ति की ही सततता व क्रियाशीलता है। क्योंकि यह असम्भव है कि वह बिल्कुल समान रह सकती है। तो मैं कहूँगा कि एक समान शक्ति की यह क्रियाशीलता देश और काल की विभिन्न स्थितियों में एक अत्यन्त पक्षपातपूर्ण मान्यता है, जिसकी उपस्थिति के कोई लक्षण उन परिणामों में सम्भवतः नहीं हो सकते जिनसे कि कारण सम्बन्धी हमारा समस्त ज्ञान मूलतः मिल सका है। अनुमानित कारण को ज्ञात परिणाम से बिल्कुल संतुलित होने दीजिए (जैसा कि होना चाहिए) और तब यह असम्भव है कि वह ऐसे किसी भी गुण से युक्त हो सकता है जिससे कि नये या भिन्न परिणामों का अनुमान किया जा सके।

इस विषय में हमारी त्रुटियों और हमारे अटकलों के सीमित अधिकार पत्र का बड़ा कारण यह है कि हम परोक्ष में अपने आपको सर्वोच्च सत्ता की जगह समझने लगते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि वह प्रत्येक स्थिति में, उसी तरह व्यवहार करेगा जैसा कि हम उसकी जगह में होने पर विवेकयुक्त व न्यायपूर्ण समझ कर करते। किन्तु इसके अतिरिक्त भी क्या साधारण क्रम ही हमें यह विश्वास दिला सकता है कि प्रायः प्रत्येक उन सिद्धान्तों व नीतियों से परिचालित है जो कि हमारे सिद्धान्तों व नीतियों से बहुत भिन्न है, इसके सिवाय मैं यह भी कहता हूँ कि मनुष्यों की योजनाओं और लक्ष्यों से एक सत्ता का विचार जो कि भिन्न है और अधिक उच्च है, तुलना के समस्त नियमों के विपरीत है। मानव प्रकृति में योजनाओं और लक्ष्यों की एक विशिष्ट अनुवभगत क्रमबद्धता है, जिससे कि जब हम किसी तथ्य से अनुमान कर मनुष्य का लक्ष्य जान लेते हैं, यह उचित है कि हम उस अनुभव के आधार पर अन्य का अनुमान करें और उसके भूत व भविष्य के आचरण के सम्बन्ध में अनुमानों की एक लम्बी शृंखला का निर्माण कर लें। किन्तु विचार की इस पद्धति का उस सत्ता के संदर्भ में कोई स्थान नहीं है जो कि दूरस्थ और अनुभवातीत है, जिसकी की संसार की किसी भी चीज़ से समानता उससे भी कम है जितनी कि सूर्य की मोमबत्ती से हो सकती है, और जो कि केवल कुछ हल्के चिन्हों और लक्षणों से स्व-अन्वेषण कर पाता है, जिनसे परे कोई गुण या पूर्णता का उस पर आरोप करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। जिसे हम एक उच्च पूर्णता कहकर कल्पना करते हैं वह यथार्थ में एक दोष हो सकता है। या यदि इतनी अधिक पूर्णता है जिसका कि सर्वोच्च सत्ता पर आरोप किया जावे, जो कि उसकी कृति (प्रकृति) में वस्तुतः पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं हो पाया प्रतीत होता है, तो यह एक सबल तर्क और अच्छे दर्शन की अपेक्षा चापलूसी और मिथ्या प्रशंसा का स्वाद अधिक देता है। अतएव विश्व के समस्त दर्शन और सर्व धर्म—जो कि दर्शन की एक शाखा विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं—हमें कभी भी सामान्य अनुभव की परिधि से नहीं ले जा सकते, या आचरण और व्यवहार के ऐसे मापदण्ड नहीं दे सकते जो कि सामान्य जीवन के चिंतन से प्राप्त विचारों से भिन्न

हो। धार्मिक मान्यताओं से कोई नया तथ्य अनुमानित नहीं किया जा सकता : किसी घटना का भविष्य कथन या भविष्यदर्शन नहीं हो सकता, क्रिया और निरीक्षण से ज्ञात पुरस्कार और दंड के अतिरिक्त किसी भी पुरस्कार या दंड की अपेक्षा या भाँति नहीं हो सकती। इसलिए एपि-क्यूरिस के लिए मेरे द्वारा की गयी क्षमा प्रार्थना अभी सुदृढ़ और संतोष-जनक प्रतीत होगी, न ही समाज की राजनैतिक रूचियों का पारस्परिक और धर्म-संबंधी दार्शनिक विवादों से कोई संबंध होगा।

मैंने उत्तर में कहा कि एक स्थिति तब भी शेष रह जाती है जिस पर कि तुम ध्यान देते प्रतीत नहीं होते। यद्यपि मैं तुम्हारी प्रतिज्ञाओं को मान लूंगा, उनसे निकाले गये तुम्हारे निगमन को मैं अस्वीकार करूंगा। तुमने निष्कर्ष स्थापित किया कि धार्मिक सिद्धान्त और तर्क विचार का जीवन पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए, यह न विचार करते हुए कि अन्य व्यक्ति तुम्हारी तरह तर्क नहीं करते और दैवी सत्ता पर विश्वास के आधार पर बहुत से निष्कर्ष निकाल लेते हैं और प्रकृति सामान्य क्रम में व्यक्त है यह मान लेते हैं कि देवता बराई को दंड और अच्छाई को पुरस्कृत करेगा। उनका तर्क न्यायपूर्वक है या नहीं—इसका कोई प्रश्न नहीं है। उनके जीवन पर तो उसका प्रभाव बराबर होता ही है। अतः जो उनकी ऐसे पक्षपातपूर्ण मान्यताओं में दखल देने की चेष्टा करते हैं, उन्हें मैं अच्छे तार्किक के रूप में भले ही जानता होऊँ, अच्छे नागरिक या राजनीतिज्ञ के रूप में मान्य नहीं कर सकता, क्योंकि वे मनुष्यों को उनकी अंध प्रवृत्तियों के बन्धन से मुक्त कर देते हैं और सामाजिक नियमों के उलंघन को एक तरह से अधिक सरल और आसान बना देते हैं।

इसके बावजूद भी मैं शायद स्वतंत्रता के पक्ष में तुम्हारे निष्कर्ष से सहमत हो सकता हूँ, किन्तु उन प्रतिज्ञाओं या आधारभूत मान्यताओं से असंपृक्त रहकर जिन पर कि तुम उसकी आधार शिला रखते हो। मैं समझता हूँ कि राज्य को दर्शन के समस्त सिद्धान्तों के प्रति सहनशील होना चाहिए, और न ही ऐसा कोई उदाहरण है जिसमें सरकार को अपनी दार्शनिक रूचियों के कारण कष्ट हुआ हो। दार्शनिकों में कोई उत्साह

नहीं है, उनके सिद्धान्त व्यक्तियों को काफ़ी प्रभावित नहीं करते और उनके तर्क-विचार पर कोई बंधन नहीं रखा जा सकता, बल्कि जो विज्ञान और राज्य के लिए भी उन विषयों पर जिनमें कि जन साधारण की गहरी रुचि और सम्बन्ध है न्यायालयी जाँच और दबाव का मार्ग प्रशस्त करने हुए, दुष्परिणामजनक हो सकता है।

मैंने अपना वक्तव्य जारी रखते हुए कहा—तुम्हारे मुख्य विषय के सम्बन्ध में मुझे एक कठिनाई मालूम होती है जिसे कि मैं बिना तुम पर किसी तरह का जोर डाले प्रस्तुत मात्र करूँगा, जिससे कि यह तुम्हें अति सुंदर व कोमल प्रकृति के तर्क की ओर न ले जाये। एक शब्द में, मुझे गहरा सन्देह है कि क्या यह सम्भव है कि कारण उसके परिणाम से ही ज्ञात हो (जैसा कि तुम अभी तक मानते आये) या फिर वह इतना विशिष्ट और एकाकी स्वभाव का हो कि उसका तुम्हारे निरीक्षण में आये किसी भी अन्य कारण या वस्तु से कुछ भी तुलना या कोई भी समानता न हों। हमारे द्वारा एक वस्तु से दूसरे का अनुमान तभी सम्भव है जब कि दो जातियों की वस्तुओं को हमने सदैव परस्पर सम्बन्धित देखा है और यदि कोई ऐसा परिणाम प्रस्तुत हो, जो कि एकदम विशिष्ट हो और किसी भी ज्ञात जाति के अन्तर्गत न पहिचाना जा सके तो मैं नहीं देखता कि हम उसके कारण से सम्बन्धित कोई भी अटकल या अनुमान कर सकें। यदि मात्र अनुभव व निरीक्षण तथा तुलना ही वे पथ प्रदर्शक हों जिनके द्वारा कि हम इस तरह का अनुमान तर्क पूर्ण ढंग से कर सकते हैं, परिणाम और कारण दोनों ही अन्य परिणामों व कारणों से अवश्य ही समानता व समरूपता रखे जिन्हें कि हम जानते हों, और जिन्हें कि हम कई स्थितियों में परस्पर सम्बन्धित देख चुके हों। इस सिद्धान्त के परिणामों पर विचार का भार मैं तुम्ही पर छोड़ता हूँ। मैं तो केवल इतना ही कहूँगा कि जब एपिक्यूरस के प्रतिपक्षी सदैव एक विश्व एक सर्वथा एकाकी और अतुलनीय को देवता के लिए प्रमाण मानते हैं, एक कारण जो कि विशिष्टता और अतुलनीय में कम नहीं, तो इस मान्यता पर तुम्हारे विचार कम से कम हमारा ध्यान आकर्षित करने की योग्यता रखते प्रतीत होते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि वहाँ कुछ कठिनाइयाँ हैं जैसे यह कि

हम कारण से पुनः परिणाम की ओर कैसे लौट सकते हैं, तथा परिणाम संबंधी अपनी अवधारणा पर विचार करते हुए कारण में कोई परिवर्तन या वृद्धि का अनुमान कैसे कर सकते हैं।

बारहवाँ परिच्छेद

बौद्धिक अथवा संशयात्मक दर्शन

ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण और **अनीश्वरवादियों** के दोषपूर्ण अनुमानों के खंडन के सम्बन्ध में जितना अधिक दार्शनिक विचार-विमर्श किया गया है, उतना अन्य किसी विषय पर नहीं, किन्तु फिर भी अधिकांश धार्मिक चिंतक अभी भी यह विवाद करते हैं कि कोई ऐसा भी अंधा हो सकता है कि चिन्तन में अनीश्वरवादी हो। इस वैपरीत्य को समुचित रूप से कैसे समझा जावे? वे साहसी और भद्र अन्वेषक, जो कि शैतानों और भयंकर जीवों के अस्तित्व का कोई सन्देह ही मन में नहीं लाते।

सन्देहवादी धर्म का दूसरा शत्रु है जो कि स्वभावतः समस्त दार्शनिकों व गंभीर चिन्तकों में रोष पैदा करता है, यद्यपि आज तक कोई ऐसा आदमी नहीं हुआ जो इन विचित्र प्राणियों से मिलता, या किसी ऐसे व्यक्ति से चर्चा करता जिसके किसी भी विषय, कर्म या चिन्तन, पर कोई विचार या सिद्धान्त न हों। इसलिए, अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न उठता है—किसी भी सन्देहवादी होने का अर्थ क्या है? और, सन्देह तथा अनिश्चितता के इन दार्शनिक सिद्धान्तों को किस सीमा तक ले जाना सम्भव है?

सन्देहवाद का एक प्रकार, समस्त दर्शन व अध्ययन का **पूर्वगामी** है, जिस पर कि डेकाते और अन्यो के द्वारा भूलों और दोषपूर्ण निर्णयों के विपरीत सर्वोच्च उपाय के रूप में जोर दिया गया है। यह एक सामान्य सन्देह की पुष्टि करता है, न केवल हमारी पूर्वधारणाओं और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में, वरन् हमारे ज्ञान स्रोतों के सम्बन्ध में भी, जिनकी सत्यता के सम्बन्ध में उनके अनुसार, कुछ मूल सिद्धान्तों से, जो कि सम्भवतः दोषयुक्त और त्रुटिपूर्ण नहीं हो सकते, तर्क विचार का हमें

ही आश्वस्त हो जाना चाहिए। किन्तु न तो ऐसे सिद्धान्त हैं—जो कि अन्य स्वयंसिद्ध और विश्वासप्रद सिद्धान्तों की अपेक्षा विशेषता लिए हों—या यदि हों भी, तो बिना उन्हीं साधनों के उपयोग के वे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते जिन्हें कि इस संदर्भ में पहले ही दोषपूर्ण बताया जा चुका है। इसलिए डेकाते की संदेह वृत्ति अगर किसी व्यक्ति द्वारा सम्भाव्य भी हो, जैसा कि स्पष्टतः नहीं है, नितान्त रूप से असाध्य है, और कोई भी तर्क विचार कभी भी हमें किसी भी विषय पर संतोष और विश्वास की स्थिति तक नहीं पहुँचा सकता।

फिर भी, यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार का सन्देहवाद जब कम तीव्र हो, बड़े ही विचार पूर्ण ढंग से समझा जा सकता है, और दर्शन के अध्ययन के लिए, निर्णयों की पक्षपात ही नया कायम रखते हुए तथा प्रवृत्तिगत पक्षपात को निर्बल बनाते हुए, जिन्हें कि हमने शिक्षण या तर्कहीन मान्यताओं के बल पर स्वीकार किया हो, एक आवश्यक शैक्षणिक तैयारी है। स्पष्ट और स्व-प्रमाणित सिद्धान्तों से आरम्भ करना, आशंकायुक्त और सावधान हो आगे बढ़ना, अपने निर्णयों को बार-बार जाँचना, तौलना और उनके सब परिणामों को सही ढंग से विचारना—यद्यपि इन साधनों द्वारा हम अपने सिद्धान्तों में धीमे व कम प्रगति करेंगे—ये ही वे पद्धतियाँ हैं जिनके द्वारा हम सत्य प्राप्ति की आशा कर सकते हैं, और अपने निर्णयों में एक समुचित स्थायित्व व निश्चितता पा सकते हैं।

एक दूसरे प्रकार का भी सन्देहवाद है, विज्ञान और अन्वेषण के परिणाम भूत, जब यह समझा जाता है कि मनुष्यों ने या तो अपने मानसिक पहलुओं की नितान्त दोषपूर्णता को ढूँढ़ निकालना है या फिर वे उन विचित्र विचार विषयों में, जिनमें कि वे संलग्न हैं, किसी भी निश्चित निर्णय पर पहुँचने के अयोग्य हैं। यहाँ तक कि कुछ दार्शनिकों द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी इस विषाद में घसीटी जाती हैं और सामान्य जीवन की पराभौतिक विज्ञान और ईश्वरवाद के गहरे सिद्धान्तों और निष्कर्षों पर। चूँकि ये विरोध-युक्त सिद्धान्त यदि उन्हें सिद्धान्त कहा जा सके, कुछ दार्शनिकों के चिन्तन में मिला करते हैं, और बहुतों में

उनका खंडन मिलता है, वे स्वभावतः हमारी जिज्ञासा जागृत करते हैं और हमें उन तर्कों की जाँच-परख के लिए बाध्य करते हैं जिन पर कि वे आधारित है।

इन्द्रियों के विरुद्ध सदेहवादियों के द्वारा प्रायः युगों से दिये जाने वाले प्रमाणों के जीर्ण विषय पर मुझे अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं, जैसे कि अगणित अवसरों पर हमारी इन्द्रियों की अपूर्णता और दोषपूर्णता पर आधारित प्रमाण, पानी में पतवार का टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देना, विभिन्न दूरियों के अनुसार वस्तुओं से कई पहलुओं का प्रत्यक्षीकरण एक आँख को दबाने पर वस्तुओं का दो दीखना और इसी तरह के अन्य दृश्य संबंधी। निस्संदेह, ये संदेहवादी केवल यह प्रमाणित करने में समर्थ है कि आंतरिक रूप से केवल इन्द्रियों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता, इसलिए हम अवश्य ही इन्द्रिय-जन्य प्रमाण को बुद्धि द्वारा और उपकरण की प्रकृति, वस्तुओं की दूरी और इन्द्रिय शक्ति के विचार द्वारा सुधारें, जिसके कि अपने क्षेत्र में वे सत्यता व असत्यता के उचित मापदंड बन सके। इन्द्रियों के विरुद्ध अन्य अधिक योग्य प्रमाण भी हैं जो कि इतना सरल समाधान स्वीकार नहीं करते।

यह निर्विवाद है कि मनुष्य गण एक स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति वश या मौलिक रूप से अपनी इन्द्रियों पर आस्था रखते हैं, और बिना किसी तर्क विचार या बुद्धि के उपयोग के पहले ही हम एक बाह्य जगत् मान लेते हैं जो कि हमारे प्रत्यक्षीकरण पर आधारित नहीं हैं, तथा जो समस्त ज्ञान-युक्त प्राणियों की अनुपस्थिति या समाप्ति में भी यथावत् सतावत् रहेगा। यहाँ तक कि पशु-जगत् भी इसी विश्वास से परिचालित है और अपने विचारों योजनाओं और क्रियाओं में बाह्य वस्तुओं के प्रति इस आस्था को कायम रखता है।

यह भी निश्चित दीखता है जब प्रकृति की इस अंधी और शक्तिशाली मूलप्रवृत्ति का लोग अनुगमन करते हैं तो यह मान लेते हैं कि इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिबिम्ब ही बाह्य वस्तुएँ हैं और कभी भी यह विचार में नहीं लाते कि एक दूसरे का केवल प्रतिबिम्ब मात्र है। यह मेज ही, जिसे कि हम सफ़ेद देखते हैं और जिसे हम कठोर महसूस करते हैं, इसका

प्रत्यक्षीकरण करने वाले हमारे मस्तिष्क से बाह्य समझ ली जाती है। हमारी अनुपस्थिति उसे अस्तित्व विहीन नहीं बनाती। वह अपने अस्तित्व को उन बुद्धिजीवियों की स्थिति से स्वतंत्र रखती है जो कि उसका प्रत्यक्षीकरण या चिन्तन करते हैं।

किंतु सभी मनुष्यों की यह प्राथमिक और सामान्य भावना शीघ्र ही लेशमात्र दर्शन से नष्ट हो जाती है, जो कि यह बताता है कि मस्तिष्क के सम्मुख एक प्रत्यक्ष या प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त कोई भी वस्तु कभी प्रस्तुत नहीं होती और इन्द्रियाँ केवल अंतर्गामी स्रोत हैं जिनके द्वारा ये प्रतिबिम्ब मस्तिष्क और पदार्थ के बीच बिना किसी प्रकार के तात्कालिक सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता के आते हैं। यह मेज, जैसे-जैसे हम उसके दूर जाते हैं, छोटा होता दिखाई देता है, किंतु (यथार्थ) मेज, जो कि हमसे स्वतंत्र रूप से अस्तित्ववान् है, वस्तुतः किसी से नहीं गुजरता। अतः जो मस्तिष्क के सामने या वह उसके प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ये निसन्देह के अनुभव हैं, और कोई भी मनुष्य जो इसका अवलोकन करता है कभी सन्देह नहीं कर सकता कि जब हम 'यह घर' और 'वह वृक्ष' कहकर अस्तित्वों का विचार करते हैं, वह सब मस्तिष्क के प्रत्यक्षों और एक रूप व स्वतंत्र अन्य अस्तित्वों की परिवर्तनशील प्रतिछायाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

इस तरह, यहाँ तक तर्क विचार द्वारा प्रकृति की प्राथमिक मूल-प्रवृत्तियों में विरोध दर्शाना या उनसे दूर जाना और अपनी इन्द्रियों की प्रामाणिकता के विषय में एक नये मत का अवलम्ब आवश्यक होता है। किन्तु यहाँ दर्शन अपने आपको बड़ी उलझन में पाता है, जब कि वह इस नये मत को न्यायपूर्ण ढंग से प्रमाणित करने की चेष्टा करे और सन्देह-वादियों द्वारा प्रस्तुत अपवादों व दोषों को दूर करने का यत्न करे। वह अब प्रकृति के त्रुटिविहीन और अपराजेय मूल प्रवृत्ति की दुहाई नहीं दे सकता, क्योंकि वह हमें एक सर्वथा भिन्न मत की ओर ले जाता है जिसे कि दोषयुक्त व त्रुटिपूर्ण ही समझा जाता है और इस छद्मवेशी दार्शनिक मत को साफ सुथरे और विश्वसनीय तर्क या किसी भी तरह की तर्क-

शृंखला से न्याययुक्त प्रमाणित करने का यत्न मानवीय योग्यता की समस्त शक्ति को लाँघ जाता है।

किस तर्क द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि मस्तिष्क का प्रत्यक्षीकरण बाह्य वस्तुओं का ही होता है जो कि उनसे बिल्कुल भिन्न है, यद्यपि उनसे कुछ मेल खाते हुए (यदि यह संभव हो) और मात्र मस्तिष्क की शक्ति से, या किसी अदृश्य व अज्ञात चेतना से या किसी अन्य स्रोत से जो कि और भी अज्ञात हो, उत्पन्न नहीं हो सकते? वस्तुतः यह स्वीकार किया जाता है कि इनमें से कई प्रत्यक्ष यथा स्वप्न, उन्मादादि रोगों में, किसी बाह्य कारण से उत्पन्न नहीं होते। और इससे अधिक और कोई चीज व्याख्याविहीन नहीं हो सकती कि शरीर मस्तिष्क पर इस तरह से, यहाँ तक कि विपरीत स्वभाव समझे जाने वाले तत्व के सम्मुख, अपना प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर सके।

यह एक वस्तु स्थिति का प्रश्न है कि क्या ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न होते हैं जो कि उनसे मिलते-जुलते हैं इस प्रश्न का निर्धारण कैसे हो सकता है? निश्चय ही, अनुभव द्वारा। किन्तु यहाँ अनुभव निश्चित रूप से वाक्विहीन है और होना चाहिए। मस्तिष्क के सम्मुख प्रत्यक्षों के अतिरिक्त और कुछ भी उपस्थित नहीं और इनके वस्तुओं के साथ सम्बन्ध के अनुभव की कोई सम्भावना नहीं। अतः ऐसे सम्बन्ध की मान्यता तर्क से बिल्कुल आधारहीन है।

इन्द्रियों की नित्य सत्यता को प्रमाणित करने के लिए सर्वोच्च सत्ता की नित्य सत्यता का आश्रय लेना अवश्य ही एक बहुत बड़ा अपेक्षित वृत्त बनाना है। यदि उसकी नित्य सत्यता इस विषय से थोड़ा भी सम्बन्धित है, हमारी इन्द्रियाँ बिल्कुल त्रुटिविहीन होनी चाहिए, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि वे कभी धोखा दे सकें। इसके अतिरिक्त यदि कभी बाह्य जगत् पर भी प्रश्न उठा, हम उस सत्ता के अस्तित्व और उसके किसी भी गुण को प्रमाणित करने की दिशा में कोई तर्क पाने में असमर्थ रहेंगे।

इसलिए यह एक ऐसा विषय है जिसमें स्पष्ट और अधिक दार्शनिक संदेहवादी हमेशा विजयी रहेंगे—जब वे मानवीय ज्ञान और अन्वेषण

से सम्बन्धित समस्त विषय में एक सामान्य सन्देह प्रस्तुत करने का यत्न करेंगे। वे कह सकते हैं कि इन्द्रियों की नित्य सत्यता स्वीकार करने में क्या ? यदि प्रकृति की मूल प्रवृत्तियों और शक्तियों का अनुगमन करते हैं। किन्तु यह तो आपको केवल यही विश्वास दिलाता है कि प्रत्यक्ष और सवेदन उद्भूत प्रतिबिम्ब ही बाह्य वस्तु है। क्या आप इस बौद्धिक मान्यता को, कि प्रत्यक्ष किसी बाह्य की प्रतिछाया मात्र है ग्रहण करने के कारण, इस सिद्धांत को अमान्य करते हैं ? यहाँ आप अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों और फिर भी अपनी बुद्धि को संतुष्ट करने में असमर्थ हैं, जो कि अनुभव से ऐसा कोई विश्वसनीय तर्क नहीं पाता जिससे कि वह प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित है पर प्रमाणित कर सके।

इसी तरह का एक सन्देहवादी विषय अत्यधिक विकसित दर्शन से भी प्रत्युत्पन्न है जो कि हमारे ध्यान दिये जाने योग्य है—यदि ऐसे तर्क व विचारों को ढूँढ़ने के लिए गोता लगाना आवश्यक है जो किसी गम्भीर उद्देश्य के लिए बहुत ही कम उपयोगी हैं। आधुनिक अन्वेषकों द्वारा यह सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि वस्तुओं के सभी अनुभवगत गुण जैसे कड़ापन, नर्मपन, ताप, ठंडापन, सफेदी, कालापन आदि केवल पश्चात्गामी है और वस्तुओं के नहीं वरन् मस्तिष्क के ही आकार-प्रकार विहीन वस्तु सम्बन्धहीन प्रत्यक्ष है। यदि पश्चात्गामी गुणों के बारे में यह स्वीकार किया जाता है, यही बात विस्तार तथा सुगढ़ता के प्राथमिक या पूर्वगामी गुणों पर भी अवश्य ही लागू होना चाहिए, नहीं ये इन गुणों से नाम के सम्बन्ध में कोई अधिक अधिकार रखते हैं। विस्तार का प्रत्यय चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय से ही प्राप्त किया गया है, और यदि इन्द्रियानुभवगत समस्त गुण केवल मस्तिष्क में ही तो, यही अनुभव विस्तार के प्रत्यक्ष का भी होगा जो कि पूर्णतः अनुभवगत या पश्चात्गामी गुणों के प्रत्ययों पर आधारित है। इस निष्कर्ष से हम बच नहीं सकते किन्तु यह दावा कि प्राथमिक गुणों के प्रत्यय निः ? द्वारा प्राप्त हैं एक ऐसा विचार हैं जिसे यदि सही ढंग से जाँचे तो बुद्धि के समक्ष अग्राह्य और बेतुका पायेंगे। ऐसा विस्तार जो कि न तो स्पर्श्य, न ही दृश्य हो सम्भवतः बुद्धि ग्राह्य नहीं और ऐसा स्पर्श तथा दृश्य विस्तार जो न तो कठोर है न नर्म, न काला

है न सफेद, उसी तरह मानव ज्ञान से परे है। किसी भी व्यक्ति को एक सामान्य त्रिभुज का विचार करने दीजिए जो कि न तो समभुज है न असमभुज, जिसकी न तो कोई विशेष लम्बाई है और न भुजाओं का विशेष अनुपात वह तुरंत ही सत्त्व-निगमन और सामान्य प्रत्यय के सम्बन्ध में समस्त परम्परागत विचार के बेतुकेपन को देख लेगा।^१

इस तरह ज्ञानेन्द्रियों की प्रामाणिकता या बाह्य अस्तित्व की धारणा पर पहली दार्शनिक आपत्ति यह है कि, ऐसी धारणा यदि प्रकृति-दत्त मूल प्रवृत्तियों पर आधारित है तो विवेक के विपरीत है, और यदि तर्क पर तो प्रकृतिगत मूल प्रवृत्तियों के विपरीत, तथा एक तटस्थ अन्वेषक की संतुष्टि के लिए कोई बौद्धिक प्रामाणिकता नहीं रखता। दूसरी आपत्ति और भी दूरगामी है और इस धारणा को विवेक के प्रतिकूल रूप में प्रस्तुत करती है: यदि यह तार्किक सिद्धांत है, तो कम से कम समस्त अनुभवगत गुण मस्तिष्क में हैं पदार्थ में नहीं। पदार्थ से उसके समस्त जानने योग्य गुणों, प्राथमिक व पश्चात्गामी, से मुक्त कर दीजिए, आप एक तरह से पदार्थ को ही नष्ट कर देते हैं, और एक अज्ञात अवर्णनीय कुछ को ही हमारे प्रत्यक्षों के कारण रूप में बाकी रखते हैं। एक इतनी अपूर्व धारणा कि कोई संदेहवादी उसे विपरीत विचार किये जाने योग्य नहीं समझेगा।

१. यह तर्क डासू बर्कले से उद्धृत है, और निसंदेह उस बड़े विद्वान लेखक के अधिकांश लेख संदेहवाद की सर्वोच्च सीख प्रस्तुत करते हैं जो कि या तो प्राचीन या अर्वाचीन दार्शनिकों, बायल को छोड़ कर, में उपलब्ध हैं। अपने शीर्षक पृष्ठ में वह स्वीकार करता है, और निसंदेह बड़ी ईमानदारी से, कि उसने अपनी पुस्तक सन्देहवादियों, अनीश्वरवादियों और स्वतंत्र-चिन्तकों के विरुद्ध लिखी हो। किन्तु यह कि उसके समस्त तर्क विचार-यद्यपि दशा की ओर लक्ष्य करते हैं, यथार्थता वह मात्र संदेहवादी ही है, इससे स्पष्ट होता है कि वे न तो कोई उत्तर स्वीकार करते हैं, न ही कोई समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनका एकमात्र प्रभाव क्षणिक आश्चर्य व अनिश्चितता और जटिलता उत्पन्न करने के हैं जो कि संदेहवाद का परिणाम है।

दूसरा भाग

तर्क और अनुपातीकरण द्वारा बुद्धि को नष्ट करने का संदेहवादियों द्वारा किया गया प्रयत्न बड़ा अतिवादी मालूम होगा, तथापि वह उनके समस्त अन्वेषण और विरोध का सुन्दर क्षेत्र है। वे हमारे सत्त्वहीन विचार और तथ्यात्मक व सत्तात्मक दोनों ही विचारों में आपत्तियाँ ढूँढ़ निकालने का यत्न करते हैं।

समस्त सत्त्वहीन तर्कविचार के विपरीत उनकी प्रमुख आपत्ति देश और काल के प्रत्यय से निःसृत है वे प्रत्यय जो कि सामान्य जीवन में और साधारण दृष्टिकोण से बहुत ही स्पष्ट और बुद्धिग्राह्य है, किन्तु जब उन्नत विज्ञानों द्वारा किये जाने वाली छटनी, जो कि इन विज्ञानों का प्रमुख उद्देश्य है, पर से होकर गुजरते हैं, ऐसे सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं जो कि बेतुकेपन और विपरीतभाव से पूर्ण होते हैं। किसी भी धर्मवादी रूढ़-सिद्धांत ने वे सिद्धांत जो कि मनुष्य की विद्रोही वृत्ति को नियंत्रित और पालतू बनाने के उद्देश्य से अविष्कृत हुए, सामान्यज्ञान को इतना अधिक धक्का नहीं पहुँचाया जैसा कि विस्तार के असीमित विभाज्यता के मत ने, जैसा कि उसके परिणामों के साथ समस्त ज्यामिति शास्त्रियों और पराभौतिकवादियों ने, एक विजय और उल्लास के साथ, बड़ी शान से व्यक्त किया। किसी सीमित परिमाण से असीमित रूप से कम एक यथार्थ परिमाण ऐसे गुणों से समाविष्ट हो जो कि उससे भी असीमित रूप से कम हो और इस तरह अनन्त रूप से—एक ऐसी विचित्र और निर्भीक स्थापना है जो कि उसके पक्ष में दिये गये किसी भी व्याख्या के लिए भारी है क्योंकि मानवीय विवेक के स्पष्टतम और अतिस्वाभाविक सिद्धान्तों को भी वह हिला देता है।^१ किन्तु इस विषय को और भी अधिक असाधारण

१. गणित के बिंदुओं के विषय में चाहे जो विवाद हो, भौतिक-बिंदुओं को तो अवश्य ही मानना चाहिए अर्थात् विस्तार के वे खंड जो कि दृष्टि या कल्पना के द्वारा पुनः विभाजित या लघु नहीं किये जा सकते। इस तरह ये बिंदु, जो कि या तो कल्पना या ज्ञानेन्द्रियों के सम्मुख प्रस्तुत हैं,

बनाने वाला तथ्य यह है कि ये बेंतुकी दीखने वाली धारणाएँ स्पष्टतम और अति स्वाभाविक तर्क विचार की शृंखला द्वारा सम्हाली जाती है, हमारे लिए यह भी सम्भव नहीं कि बिना परिणाम को स्वीकार किये हम अवधारणाओं को मान्य करें। वृत्तों और त्रिकोणों की विशिष्टताओं से सम्बन्धित समस्त निष्कर्षों से अधिक कुछ और संतोषजनक व संतुष्टिप्रद न होगा और इतना होने पर भी हम यह कैसे अस्वीकार कर सकते हैं कि एक ओर उसे स्पर्श करने वाली रेखा के सम्बन्ध से परिणामभूत कोण किसी भी समकोण से असीमित रूप से लगे हैं, कि जैसे-जैसे आप वृत्त की परिधि को असीमित रूप से बढ़ायेगे, इस स्पर्श का कोण असीमित रूप से और भी छोटा होता जावेगा और यह कि अन्य वक्र और उसे स्पर्श करने वाली रेखा के बीच सम्बन्ध का कोण किसी वृत्त और उसे स्पर्श करने वाली रेखा के परिणामभूत कोण से असीमित रूप से कम है, और इस तरह अनन्त की स्थिति तक इन सिद्धान्तों की विस्तारपूर्ण व्याख्या उसी तरह आवश्यक है जिस तरह कि वह जिसमें कि यह सिद्ध किया जाता है कि त्रिभुज के तीनों कोण दो समकोण के बराबर हैं, यद्यपि बाद की यह चर्चा पूर्वोल्लेखित सिद्धान्तों की व्याख्या से—जो कि विरोधाभासों और विरोधी से पूर्ण हो—स्वाभाविक और सरल हो सकती है। यहाँ मानव विवेक एक प्रकार के वैचित्र्य और स्तब्धता की अवस्था में फँका दिया गया—सा प्रतीत होता है जो बिना किसी संदेहवादी की सम्पत्ति के बिना अपने आप में उस मार्ग के जिस पर कि वह चलता है, एक तरह के अविश्वास से जकड़ जाता है। वह एक पूर्ण प्रकाश देखता है जो कई स्थलों को प्रकाशित करता है, किन्तु वह प्रकाश एक बड़े गहन अंधकार

नितान्त रूप में अविभाज्य हैं और परिणामतः गणितज्ञों द्वारा यह अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे विस्तार के किसी भी यथार्थ भाग की अपेक्षा अनन्त रूप से लघु हैं, किन्तु फिर भी बुद्धि को इससे अधिक और कुछ निश्चित प्रतीत नहीं होता कि ये ही असंख्य बिंदु असीमित विस्तार की रचना करते हैं। विस्तार के वे असीमित रूप से लघु भाग कितने असंख्य हैं जो कि पुनः असीमित रूप से विभाज्य माने जाते हैं।

पर अंतिम किनारे की तरह होता है। और इनके बीच वह इतना चका-चौंध और तर्क भ्रष्ट हो जाता है कि वह किसी भी विषय पर शायद ही निश्चितता और विश्वासपूर्वक कोई निर्णय दे पाता है।

निःसत्त्व विज्ञानों के इन सुदीर्घ सुनिश्चितताओं का बेतुकापन विस्तार की अपेक्षा काल के सन्दर्भ में, यदि संभव हो, तो और भी रुचिकर हो उठता है। काल के क्रमशः असंख्य खंड, जैसे क्रमशः आते और एक के बाद एक विलीन होते जाते हुए, इसने स्पष्ट रूप से विरोधपूर्ण प्रतीत होते हैं, कोई ऐसा मनुष्य भी, जिसकी निर्णयात्मक शक्ति अस्वस्थ नहीं है, विज्ञानों द्वारा उत्साह व वृद्धि पाने की जगह, उसे कभी स्वीकार करने योग्य न होगा।

फिर भी बुद्धि इन प्रतीत होने वाले बेतुकेपन और विरोधों के फलस्वरूप उत्पन्न संदेहवाद के सम्बन्ध में बेचैन और असन्तुष्ट रहेगी। यह कैसे सम्भव है कि एक स्पष्ट और निश्चित प्रत्यय स्वयं से विरोधी परिस्थितियों को समाविष्ट कर सके या एक स्पष्ट और निश्चित प्रत्यय बिल्कुल ही जाना जा सकने योग्य हो और शायद उतना ही अर्थहीन हो जितना कि कोई वाक्य हो सकता है। अतः यह संदेहवाद की अपेक्षा, जो कि ज्यामिति शास्त्र या पारिमाणिक विज्ञान के परस्पर विरोधी निष्कर्षों से उत्पन्न होता है, कुछ और भी अधिक सन्देहजनक या अस्थिरतापूर्ण नहीं हो सकता।^१

१. मुझे लगता है कि इन विपरीतताओं और विरोधों का हल असम्भव नहीं, यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि सही अर्थों में निःसत्त्व या सामान्य प्रत्यय जैसी कोई चीज नहीं, वरन् समस्त सामान्य प्रत्यय यथार्थतः सामान्य पदों से संलग्न विशेष प्रत्यय हैं जो कि परिस्थितिवश उन अन्य विशिष्ट प्रत्ययों की याद दिलाते हैं जो कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, भविष्य में स्थित प्रत्यय से समरूपता रखते हैं। जैसे कि यदि 'घोड़ा' शब्द का उच्चारण हो, हम तुरन्त ही अपने सम्मुख एक विशिष्ट आकार या रूप के एक सफेद या काले प्राणी का प्रत्यय चित्रित कर लेंगे किन्तु चूंकि वही शब्द अन्य रंग, आकार व रूप वाले प्राणियों के लिए भी प्रयुक्त होता

नैतिक प्रमाण या वस्तुस्थिति के विचारों के सम्बन्ध में सन्देहवादी आपत्तियाँ या तो अतिसामान्य हैं अथवा दार्शनिक। अतिसामान्यविरोधी मान्यताएँ, जो विभिन्न देशों और विभिन्न कालों में स्वीकृत होती रहीं, रोग और स्वास्थ्य, यौवन और प्रौढ़ावस्था में हमारे निर्णयों में जो परिवर्तन हुए, प्रत्येक मनुष्य विशेष के धारणाओं व भावनाओं में जो एक स्थिर विरोधाभास बना रहा, इसी तरह के और कई विषयों के सम्बन्ध में। इस शीर्षक के अंतर्गत आगे जोर देना अनावश्यक है। ये आपत्तियाँ बहुत कमजोर हैं, क्योंकि जैसे सामान्य जीवन में, हम प्रत्येक क्षण तथ्य और सत्ता का विचार करते हैं, और इस तरह के विचार के सतत उपयोग के बिना शायद हम नहीं रह सकते, कोई भी सामान्य आपत्ति जो इससे उत्पन्न होती है वह उस प्रमाण को नष्ट करने में अवश्य ही अपर्याप्त है। अतिशय सन्देहवाद पर शक्तिशाली आक्रमक कर्म और उसका विनियोग, तथा सामान्य जीवन के व्यापार हैं। ये सिद्धान्त मतवादियों के बीच उन्नतशील व विजयी हो सकते हैं, जहाँ कि निसन्देह उनका निराकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। किंतु जैसे ही वे यह छत्रछाया छोड़ते हैं, यथार्थ वस्तुओं की उपस्थिति के द्वारा जो कि हमारी प्रकृति के अधिक शक्तिशाली सिद्धान्तों के विरोध में होते हैं और धुएँ की तरह उड़ जाते

है, ये प्रत्यय शीघ्र ही याद किये जा सकते हैं, यद्यपि कल्पना में यथार्थतः उपस्थित न होंगे और हमारे तर्क, विचार व निष्कर्ष उसी तरह गतिशील रहेंगे जैसे कि उनकी यथार्थ उपस्थिति में रहते। यदि यह स्वीकार किया जाये जैसा कि विचारपूर्ण प्रतीत होता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिमाण सम्बन्धी समस्त प्रत्यय, जिस पर कि गणितज्ञ विचार करते हैं, विशिष्ट प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ नहीं जो कि ज्ञानेन्द्रियों व कल्पना के द्वारा प्रस्तुत होते हैं और परिणामतः असीमित रूप से विभाज्य नहीं हो सकते। अब इस विषय को बिना आगे बढ़ाये छोड़ देना पर्याप्त है। विज्ञान के समस्त प्रेमियों के लिए निसन्देह ही यह आवश्यक है कि स्वयं को वे अपने निष्कर्षों के द्वारा अज्ञानी की आलोचना और हंसी से बचावे और यह इन कठिनाइयों का तत्काल उपाय प्रतीत होता है।

हैं, तथा अधिक-से-अधिक दृढ़ प्रतिज्ञा सन्देहवादी को भी अन्य मरणशील व्यक्तियों की दशा में छोड़ जाते हैं।

अतएव, यह उचित है कि सन्देहवादी अपने अनुकूल क्षेत्र के भीतर ही बना रहे और उन दार्शनिक आपत्तियों का प्रदर्शन करे जो कि अधिक सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम हो। यहाँ उसके विजय की सम्भावना अधिक है, जब कि वह न्यायपूर्ण ढंग से इस पर जोर देता है कि किसी भी वस्तु स्थिति के हमारे सभी प्रमाण, जो कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों या स्मृति की पकड़ से परे हैं, कार्यकारण सम्बन्ध से उत्पन्न हैं कि इस संबंध का हमें कोई विचार नहीं सिवाय इसके कि दो वस्तुओं को हमने परस्पर सतत रूप से संलग्न देखा है, कि यह विश्वास दिलाने के लिए हमारे पास कोई तर्क नहीं कि हमारे अनुभव में वे वस्तुएँ जो सतत रूप से परस्पर संलग्न रही हैं, अन्य उदाहरणों में भी इसी तरह से संलग्न होंगी और यह हमें इस अनुमान पर पहुँचाने वाला एक संस्कार या हमारी प्रकृति की एक मूल प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं—जो कि निसंदेह ही रोकने में कठिन है किन्तु अन्य मूल प्रवृत्तियों की तरह त्रुटिपूर्ण और छलयुक्त भी हो सकती है। जब कि सन्देहवादी इन विषयों पर जोर देता है वह या तो अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है या हमारी कमजोरी, और कुछ समय के लिए तो वह अवश्य ही समस्त आशाओं और विश्वासों को नष्ट कर डालता है। ये तर्क विचार और भी अधिक दूरी तक खींचे जा सकते यदि उनसे कोई स्थायी सामाजिक कल्याण या लाभ की अपेक्षा की जा सकती।

चूँकि यहाँ अतिवादी सन्देहवाद के लिए कटु आपत्तियाँ हैं, उससे कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता जब तक कि वह अपनी पूरी शक्ति और ओजस्विता में हो। ऐसे सन्देहवाद से हमें केवल यह पूछने की आवश्यकता है, उनका आशय क्या है? और अपने इन सब विचित्र अन्वेषणों से वह कहना क्या चाहता है? वह तुरन्त ही शक्तिहीन हो जावेगा और क्या उत्तर देना चाहिए कि यह नहीं जान सकेगा। कोपर्निकस और टालमी के मतानुयायी, जो कि अपने भिन्न-भिन्न खगोल शास्त्रों को मान्य करते हैं, इस तरह विश्वास दिलाने की आशा कर सकता है जो कि उसके श्रोताओं में स्थिर और स्थायी हो। स्टोइक और इपिक्यूरस के अनुयायी

केवल सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं जो कि स्थायी हैं वरन् जिनका कि आचरण और कर्म पर भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु एक अतिशय सन्देहवादी यह अपेक्षा नहीं रख सकता कि मस्तिष्क पर उनके दर्शन का कोई विशेष प्रभाव होगा और यदि हो भी तो उसका प्रभाव समाज के लिए लाभकारक होगा। ठीक इसके विपरीत उसे स्वीकार करना चाहिए, यदि वह कोई चीज स्वीकार करें कि यदि उसके सिद्धान्त स्थायी रूप से मान्य हो सकते हैं तो समस्त मानव-जीवन का अन्त हो जाना चाहिए। समस्त चर्चाएँ, समस्त कर्म तब तुरंत ही बंद हो जायेंगे और मनुष्य पूर्ण अक्रिया में लुप्त हो जावेगा, जब तक कि इन सबसे असंतुष्ट प्रकृति की आवश्यकताएं उनके दयनीय स्थिति की परिसमाप्ति ही न कर दें। यह सत्य है कि इतनी भयंकर दुर्घटना से बहुत ही कम डरना चाहिए। सिद्धान्तों की अपेक्षा प्रकृति सदैव ही अधिक शक्तिशाली है। और यद्यपि एक अतिशय सन्देहवादी अपने आपको या दूसरे अपने गहन तर्क के द्वारा क्षणिक आश्चर्य और अव्यवस्था की दशा में फेंक सकता है। किन्तु जीवन की पहली और अति साधारण घटना ही उसके समस्त सन्देहों और शंकाओं को काफूर कर देगी और प्रत्येक कार्य तथा चिन्तन की दशा में उसी पूर्वावस्था में पहुँचा देगी जहाँ कि अन्य सभी मतवादी दार्शनिक रहते हैं या जहाँ कि व्यक्ति दार्शनिक अन्वेषणों से निर्लिप्त रहते हैं। जब वह अपने स्वप्न से जागता है, तब वह स्वयं ही अपनी हंसी उड़ाने के साथ देने वाला प्रथम व्यक्ति होता है और यह स्वीकार करने के भी कि उसकी समस्त आपत्तियाँ निरी मनोरंजन मात्र थी तथा क्रिया व बुद्धि और आस्था से पूर्ण मानव जाति के काल्पनिक दशा को दिखाने के अतिरिक्त उनकी और कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यद्यपि अपनी खोज में ये इसके योग्य नहीं कि इन क्रियाओं के मूलाधार के सम्बन्ध में वे स्वयं संतुष्टि कर सकें या उन आपत्तियों को दूर कर सकें जो कि उनके विरुद्ध उठायी जा सकती है।

तीसरा भाग

निसन्देह एक और मध्यम मार्गीय सन्देहवाद है जो कि स्थायी और उपयोगी दोनों ही हो सकती है तथा जो आंतरिक रूप से अतिवादी सन्देह-

वाद का ही परिणाम हो सकती है, यदि इस अतिवाद के अमान्य संदेहों को कुछ अंशों में सामान्य ज्ञान और पुनः चिन्तन द्वारा संशोधित किया जाय। अधिकांशतः मानव जाति अपनी धारणाओं के हठवादी और अंध परम्परावादी होती है, और जब कि वे वस्तुओं को केवल एकांगी दृष्टि से देखते हैं और विपरीत तर्क का उन्हें विचार नहीं होता, अपने आपको तुरन्त ही ऐसे सिद्धान्त के ग्रहण की ओर ले जाते हैं जिधर उनकी प्रवृत्ति होती है। न ही उन्हें उन लोगों से कोई विरोध होता है जो कि विपरीत भाव रखते हैं। अस्थिरता या असंतुलन उनके ज्ञान शक्ति को भ्रष्ट कर, भावों में रुकावट और कार्यों का स्थगन कर देती है। इसलिए जब तक कि वे ऐसी स्थिति के बाहर नहीं आ जाते जो कि उनके लिए असुविधा जनक है वे असंतुष्ट रहते हैं और सोचते हैं कि अपने विश्वास की स्वीकृति और रूढ़ आस्था का उल्लंघन कर अपने आपको कभी भी इससे दूर नहीं कर सकते। किन्तु क्या ये रूढ़िवादी विचारक मानवीय बुद्धि की उसकी सर्वाधिक पूर्णविस्था तथा उसकी धारणाओं की औचित्य पूर्ण और जागरूक अवस्था में भी, विचित्र अस्थिरता के प्रति सचेत रह सकते हैं ? इस प्रकार का चिन्तन स्वभावतः ही उन्हें अधिक औदार्य गंभीरता की ओर आकृष्ट अपने विचार के प्रति प्रेम, और विरोधियों के प्रति द्वेष-भाव को कम करेगा। एक अनपढ़ ऐसे विद्वान की मान्यताओं पर विचार कर सकता है जो कि अध्ययन और चिन्तन की तमाम सुविधाओं के बीच अभी भी सामान्यतः अपनी धारणाओं के प्रति अविश्वासी होते हैं और यदि कुछ विद्वान् अपने स्वभाव स्वरूप तेजमिजाजी और हठवादिता की ओर प्रवृत्त हों, अति सन्देहवाद की थोड़ी ही मात्रा उनके अहंकार को कम कर देगी उन्हें यह दिखाकर कि अपने अन्य सहचिंतकों के विरुद्ध जो थोड़ा बहुत लाभ वे प्राप्त कर सकते हैं, वे कुछ भी नहीं यदि उनकी तुलना मानव प्रकृति के सार्वजनिक निराशाओं और उलझनों से की जाय। संक्षेप में, सन्देह, सावधानी और संतुलित मूलीकरण की एक मात्रा है, जिसे कि सभी प्रकार के काट-छाँट और निर्णयों में एक न्यायपूर्ण तार्किक साथ अवश्य ही होना चाहिए।

अन्य प्रकार का मध्यममार्गीय सन्देहवाद, जो कि मानव जाति के

लिए लाभप्रद है, तथा जो अति संदेहवादी शंकाओं और आक्षेपों का स्वाभाविक परिणाम हो सकता है, हमारे अन्वेषणों को उन विषयों तक सीमित रखता है जो कि मानवीय समझ की सीमित शक्ति की परिधि में ही चितनीय है। मानवीय कल्पना सामान्यतः उर्ध्वगामी है, जो भी दूरस्थ और असाधारण है—उसमें मग्न, और उन वस्तुओं को टालने के लिए जो कि संस्कार ने उसके लिए बड़े परिचित बना दिये हैं, देश, काल के अति दूरस्थ भागों में भाग दौड़ में व्यस्त। एक सही निर्णय की विधि विपरीत होती है, वह समस्त दूरस्थ और उच्च अन्वेषणों से दूर रह साधारण जीवन में और ऐसे विषयों में, जो कि दैनिक क्रियाओं और अनुभवों के अंतर्गत आते हैं, सीमित होती है, अधिक उच्च विषयों के अंतर्गत आते हैं, सीमित होती हैं, अधिक उच्च विषयों को वह कवियों और भाषण कर्त्ताओं की क्षुधापूर्ति या पुजारियों और राजनीतिज्ञों की कलात्मकता के लिए छोड़ देती है। हमें इतने अच्छे परिणाम तक पहुंचाने वाले अति-सन्देहवाद की शंकाशक्ति पर पूर्ण विश्वास की अपेक्षा और कुछ अधिक लाभकारी नहीं हो सकता, और साथ ही इसकी असम्भाव्यता भी कि स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इससे हमें और कोई छुटकारा भी दिला सकते हैं। जिनकी दर्शन में प्रवृत्ति है वे अब भी अपनी खोज जारी रखेंगे, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसी क्रिया में तात्कालिक सुख के अतिरिक्त भी, दार्शनिक चिन्तन सामान्य जीवन के विधिवत् व संशोधित रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं। पर उनमें सामान्य जीवन से परे जाने की उत्सुकता नहीं होनी चाहिए, जब तक कि वे ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयुक्त साधनों की अपूर्णताओं—उनकी सीमित पहुंच और उनकी त्रुटिपूर्ण क्रियाओं—के प्रति सचेत हैं। निसन्देह हम हजार प्रयोगों के बाद भी इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते क्योंकि हम विश्वास करते हैं कि पत्थर गिरेगा और आग जलायेगी, किन्तु क्या हम कभी भी विश्वों की उत्पत्ति, प्रकृति की स्थिति, स्वरूप और नित्यता के सम्बन्ध में हमारी किसी भी मान्यता के प्रति संतुष्ट हो सकते हैं?

हमारे अन्वेषणों की यह संकीर्ण सीमितता निसन्देह ही प्रत्येक प्रकार से इतनी बुद्धि ग्राह्य है कि उसे अपने सम्मुख सिद्ध करने के लिए इतना

ही आवश्यक है कि मानवीय बुद्धि के स्वाभाविक शक्तियों की थोड़ी जाँच-परख की जाय। हम तब पायेंगे कि विज्ञान और अन्वेषण के सही विषय क्या हैं।

मुझे प्रतीत होता है कि निःसत्त्व विज्ञान या प्रयोगात्मक विज्ञान के मात्र विषय में मात्रा और संख्या और मानवीय ज्ञान के इन अधिक विकसित प्रकारों (अर्थात् विज्ञानों) को इन सीमाओं की परिधि से परे खींचना केवल विवाद और भ्रम है। चूँकि मात्रा और संख्या के निर्माणक घटक बिल्कुल समान हैं, उनके सम्बन्ध जटिल होते और परस्पर उलझ जाते हैं तथा इससे अधिक और कुछ जिज्ञासाप्रद और साथ ही लाभप्रद भी, नहीं हो सकता कि विभिन्न साधनों से उनके विभिन्न स्वरूपों द्वारा प्रकट समानता या असमानता को ढूँढ़ा जावे? किन्तु चूँकि दूसरे सब प्रत्यय स्पष्ट है एक दूसरे से दूर और भिन्न हैं, हम अपने समस्त खोज-बीन में इस विभिन्नता को देखने और विचारपूर्वक यह घोषणा करने के कि अमुक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है, आगे नहीं बढ़ सकते। अथवा यदि इन निर्णयों के सम्बन्ध में कोई कठिनाई हो तो वह नितान्त रूप से शब्दों के अनिश्चित अर्थ का परिणाम है, जिन्हें कि सही परिभाषा देकर सुधारा जा सकता है। यह कि कर्ण पर का वर्ग दूसरी ही भुजाओं के वर्ग के योग के बराबर होता है बिना तर्क और अन्वेषण के नहीं जाना जा सकता, चाहे पदों को कितना ही अधिक सुचारू रूप से परिभाषित क्यों न किया जाय। पर इस तथ्य पर कि जहाँ कोई विशेषण नहीं है वहाँ कोई अन्याय नहीं हो सकता हमें विश्वास दिलाने के लिए केवल यह आवश्यक है कि पदों को परिभाषित किया जाय और अन्याय को अर्थ विशेषज्ञों की अवज्ञा बताया जाय यह तथ्य निसन्देह ही अपूर्ण परिभाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यही बात सभी छद्म अनुमान विचारों के साथ है जो कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा में, मात्रा और संख्या के विज्ञान को छोड़कर उपलब्ध हैं और मैं सोचता हूँ कि केवल ये, अर्थात् मात्रा और संख्या ही त्रुटिहीन रूप से ज्ञान और विवेचना के सही विषय कहे जा सकते हैं।

अन्य सभी मानवीय गवेषणाएँ केवल सत्तात्मक और तथ्यपरक विषयों पर होती हैं और स्पष्टतः ये सही विवेचना के अयोग्य हैं। जो

कुछ वह नहीं भी हो सकता है। किसी भी तथ्य का निषेध, विरोध प्रस्तुत नहीं करता। किसी भी सत्ताशील का अस्तित्व, बिना किसी अपवाद के, उसके अस्तित्व की तरह स्पष्ट और अलग प्रत्यय हो सकता है। वह कथन उसे (सत्ता को) अस्वीकार करता है, चाहे कितना ही असत्य क्यों न हो, उसे स्वीकार करने वाले वक्तव्य से कभी भी कम विश्वासप्रद और बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। किन्तु विज्ञानों के, उनके विशुद्ध रूप में, सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वहां ऐसा प्रत्येक कथन जो कि सत्य नहीं है उलझन पूर्ण और बुद्धि से परे हैं। यह कि ६४ का त्रिघात आधे के बराबर है असत्य कथन है और कभी भी स्पष्टतः समझा नहीं जा सकता। किन्तु सीजर या देवदूत गेन्नियल या और भी अन्य कोई, कभी अस्तित्ववान् न थे, असत्य कथन हो सकता है, किन्तु पूर्णतः समझे जाने योग्य है और कोई विरोध उपस्थित नहीं करता।

अतएव, किसी भी सत्ताशील का अस्तित्व उसके कारण या परिणाम पर आधारित तर्कों द्वारा ही प्रमाणित किया जा सकता है और वे तर्क अनुभव पर ही पूर्णतः आधारित होते हैं। यदि हम प्राक्अनुभव से तर्क करें, तो कोई भी चीज़ किसी भी अन्य चीज़ को प्रस्तुत करने में समर्थ प्रतीत होगी। इस तरह, हम जान सकते हैं कि पत्थर के टुकड़े का गिरना सूर्य को बुझा सकता है, या किसी व्यक्ति की इच्छा नक्षत्रों को उनकी कक्षा में नियंत्रित कर सकती है। केवल अनुभव ही हमें कार्यकारण की प्रकृति और सीमाओं से परिचित करा सकता है और एक वस्तु के अस्तित्व से किसी अन्य वस्तु की सत्ता के अनुमान के योग्य बताता है।^१ नैतिक विज्ञान, जो कि मानवीय ज्ञान के बृहत्तर भाग हैं और जो कि समस्त

१. प्राचीन दर्शन का वह अपावन सिद्धान्त जिसके द्वारा कि पदार्थ के निर्माण की वर्णना की गयी है, प्रस्तुत दर्शन द्वारा कोई सिद्धान्त नहीं रह जाता। न केवल सर्वोच्च सत्ता की इच्छा ही पदार्थ निर्माण कर सकती है, वरन् हमें प्राक्अनुभव ज्ञान होना चाहिए कि किसी भी अन्य सत्ताशील की इच्छा या और भी कोई कारण, जिसे कि अत्यन्त स्वच्छन्द कल्पना प्रस्तुत करे, इसके निर्माण में समर्थ हैं।

मानवीय क्रिया-कलापों के स्रोत हैं, के मूल में यही बात है।

सामान्य तथ्यों से सम्बन्धित विज्ञान हैं राजनीति, दर्शन, प्राकृत दर्शन, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि जिनके कि विषय के समस्त प्रकारों के विशिष्टताओं तथा कारण परिणाम की खोज-बीन की जाती है।

ईश्वरवाद, चूँकि ईश्वर की सत्ता और आत्माओं की अमरता को प्रमाणित करता है, कुछ विशिष्ट तथ्यों और कुछ सामान्य तथ्यों के विचार द्वारा गठित होता है। बुद्धि में इसका मूल होता है, जहाँ तक कि यह अनुभव पर आधारित होता है। पर इसका सर्वोत्तम और ठोस आधार है श्रद्धा और दैवी अनुभूति।

नीति, व्यवहार और आलोचना बुद्धि की अपेक्षा रुचि और भावनाओं के विषय अधिक हैं। सौंदर्य, चाहे भौतिक हो या नैतिक, प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुभवगत अधिक है। या यदि हम उसके विषय में विचार करें और उसका मापदंड निश्चित करने का यत्न करें तो उसे हम एक नया तथ्य समझेंगे एक सामान्य मानवीय रुचि, या ऐसा कोई तथ्य जो कि विचार-विमर्श का विषय हो सके।

इन सिद्धान्तों से अनुप्राणित हो यदि हम अपना पूरा पुस्तकालय छान मारें तो क्या कट्टर हो? उदाहरण के लिए यदि हम कोई पुस्तक, चाहे वह ईश्वर सम्बन्धित हो या दर्शन मतवाद सम्बन्धित, हाथ में लें और पूछें, क्या यह मात्रा और संख्या से सम्बन्धित किसी निःसत्त्व विचार से सम्बन्धित है? नहीं। तब क्या यह वस्तु तथ्य और अस्तित्व सम्बन्धी किसी प्रयोगात्मक विचार से सम्बन्धित है? नहीं। तो हमें उसे आग के हवाले कर देना चाहिए: क्योंकि तब उसमें सिवाय बकवास और भ्रम के और कुछ नहीं हो सकता।



